

ए. आर. राजराज वर्मा

के. एम. जॉर्ज

साहित्य अकादेमी राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था है, जिसकी स्थापना भारत सरकार ने सन् १९५४ में की थी। यह एक स्वायत्त संस्था है, जिसकी नीतियाँ अकादेमी की परिषद् द्वारा निर्धारित होती हैं। परिषद् में विभिन्न भारतीय भाषाओं, राज्यों और विश्वविद्यालयों के प्रतिनिधि होते हैं।

साहित्य अकादेमी का प्रमुख उद्देश्य है भारतीय भाषाओं की साहित्यिक गतिविधियों का समन्वयन और उन्नयन करना और अनुवादों के माध्यम से विभिन्न भारतीय भाषाओं में उपलब्ध उत्तम साहित्य को समग्र देश के पाठकों तक पहुँचाना। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए साहित्य अकादेमी ने एक विस्तृत प्रकाशन-योजना हाथ में ली है। इस योजना के अंतर्गत जो ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं उनकी सूची साहित्य अकादेमी के विक्रय-विभाग से प्राप्त की जा सकती है।

भारतीय
साहित्य के
निर्माता



भारतीय साहित्य के निर्माता

ए० आर० राजराज वर्मा

लेखक

के० एम० जॉर्ज

अनुवादक

महेश्वर



साहित्य अकादेमी, नयी दिल्ली

A.R. RajaRaja Varma : Hindi Translation by Maheshwar
of K.M. George's English monograph. Sahitya Akademi, New
Delhi (1980).

SAHITYA AKADEMI
REVISED PRICE Rs. 15-00

मूल्य : **SAHITYA AKADEMI**
REVISED PRICE Rs. 15-00

© साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९८०

साहित्य अकादेमी

रवींद्र भवन, ३५, फ़ीरोजशाह रोड, नई दिल्ली-११०००१

क्षेत्रीय कार्यालय

रवींद्र सरोवर स्टेडियम, ब्लाक V-बी, कलकत्ता-७०००२६

१७२, मुंबई मराठी ग्रंथ संग्रहालय मार्ग, दादर, बम्बई-४०००१४

२६, एलडाम्स रोड (दूसरा तल्ला), तेनम्पेट, मद्रास-६०००१८

मुद्रक : रूपाभ प्रिंटर्स, ४/११५, विश्वासनगर, शाहदरा,
दिल्ली-११००३२

आभार

मैं डॉ० के० पी० के० मेनन और डॉ० के० अय्यप्प पणिकर को मूल्यवान
परामर्श देने और पांडुलिपि पढ़ने के लिए धन्यवाद देता हूँ। इसके अतिरिक्त मैं
ए० आर० राजराज वर्मा के पुत्र प्रोफ़ेसर राघव वर्मा का आभारी हूँ, जिन्होंने
चरेलू और साहित्यिक संदर्भों में मेरे कतिपय संदेहों का निवारण किया।

के० एम० जॉर्ज

अध्याय १

पृष्ठभूमि

यदि हम सदियों में पनपे किसी साहित्य के इतिहास की परख करें तो उसमें हमें कई तरह के उतार-चढ़ाव और विफलता-प्रभावहीनता के बीच फलबत्ता एवं प्राणवत्ता की झलक मिलेगी। प्रगति निरंतर एक सीध में नहीं होती, क्योंकि विकास और विषटन की अवधि बदलती रहती है। मलयालम साहित्य भी इस नियम का अपवाद नहीं है। मलयालम साहित्य की युगान्तरकारी घटनाएँ चेरुशशेरि (१५वीं सदी), तुंचत्तु एणुतच्चन (१६वीं सदी), कुंचन नाम्बियार (१८वीं सदी), और उन्नायी वारिएर सरीखे महापुरुषों के इर्द-गिर्द घूमती रही हैं। इन महान् कवियों की रचनाएँ अपने रूपगत आकार, विषयवस्तु और विचारों में श्रेष्ठ हैं। कम प्रतिभा वाले कतिपय लेखकों ने इन लोगों का अनुसरण किया है, तथा अधिकांश ने इन महापुरुषों की विशिष्ट रचनाओं का अनुकरण करने की भी कोशिश की है।

इस बात पर आम सहमति है कि मलयालम साहित्य में सर्वप्रथम रचना का समय १५वीं सदी से पहले का है जब चेरुशशेरि नम्बूदिरि ने 'कृष्णगाथा महाकाव्य' की रचना की। इस अवधि में हमें साहित्यिक मलयालम किशोरावस्था में दिखता है जिसपर संस्कृत तथा तमिल जैसे विकसित साहित्य का शक्तिशाली प्रभाव पड़ रहा था। साथ ही इस अवधि में हमें लोकगीतों की विशाल संपदा दिखती है जिसकी भाषा मुख्यतया बोलचाल की है। वस्तुतः उस समय तीन तरह की विशिष्ट साहित्यिक धाराएँ थीं जिन्होंने केरल के लिए एक पारंपरिक भाषा का निर्माण किया था। ये धाराएँ थीं : (१) देशज (२) तमिल और (३) संस्कृत। यदि 'रामचरितम्' में वर्णित काव्यबंध 'पाट्टु' शैली तमिलधारा की है तो प्रारंभिक 'मणिप्रवाल' का काव्यबंध संस्कृत धारा से संबद्ध है।

इन तीनों समकालीन शैलियों या धाराओं में गहराई और वैशिष्ट्य को लेकर अंतर था परंतु उनका एक दूसरे पर प्रभाव था। अपनी मिट्टी से जुड़ी पहली धारा मंद और रंगहीन होने के बावजूद स्पष्ट और तीव्रगामी थी जबकि दूसरी धारा रंगहीन और मुखर। तीसरी धारा गहरी किंतु थोड़े से विद्वज्जनों के

लिए उपयोगी थी और उसमें उथल-पुथल एवं वागाडंबर का समावेश था। १४वीं सदी के 'उण्णुनीलीसदेशम्' और 'कण्णशशन पाट्टुकला' में इन तीन धाराओं की अंतःक्रिया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। जो भी हो, 'कृष्णगाथा' में एक नई शैली का विकास है जिससे हमें विभिन्न शैलियों में स्वस्थ ढलाव और बोलचाल के रूपगढ़न का संकेत मिलता है।

अन्य सम्प्रदायों, विशेषकर संस्कृत, के सर्वोत्तम साहित्य को स्वीकारने और उससे जुड़ने की प्रवृत्ति भी तुंचत्तु एपत्तचचन के हाथों अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। उन्होंने शीघ्र ही पारंपरिक मलायलम को लोकप्रिय और व्यापक बना दिया। उनकी 'रामायणम्' और 'महाभारतम्' रचनाएँ अपनी विशिष्ट साहित्यिक श्रेष्ठता और आध्यात्मिक अंतर्दृष्टि के कारण मलयालम पाठकों को सदा के लिए अभिभूत कर लेती हैं।

मलयालम के साहित्यिक-क्षेत्र में दूसरे शिखर की शलक लगभग एक सदी के बाद मिलती है। वस्तुतः यहाँ हमें दो शिखर एक साथ दिखते हैं। प्रथमतः कथकली साहित्य के पुरोधा उन्नाथी वारिएर हैं जिनका 'नल चरितम् आट्टकथा' अपने नाटकीय तत्त्वों और मौलिकता के लिए प्रसिद्ध है। इस नाटक का मंचन चार दिनों में ही संभव था। कथकली एक महान् कलाशैली थी परंतु पूरे आनंद के लिए इसके प्रेक्षकों का सूक्ष्मदर्शी होना आवश्यक था। अदम्य उत्साही तथा तीक्ष्णबुद्धि वाले कुंचन नम्बियार ने जनता की आवश्यकता को महसूस करते हुए 'तुल्लल' नामक कथाशैली को विकसित किया और पर्याप्त मात्रा में ऐसे साहित्य को प्रस्तुत किया जिससे असंस्कृत तथा सुसंस्कृत दोनों ही आनंद उठा सकते थे। हालांकि उन्होंने पौराणिक विषयवस्तु अपनाई, परंतु उनकी प्रतिभा ऐसी थी कि प्रत्येक पदसमूह समकालीन तथा आश्चर्यजनक रूप से आनंददायी प्रतीत होते थे। उनका संबंध १८ वीं सदी से था।

इन महापुरुषों की मौलिकता ऐसी थी कि न केवल वे रूपवादी प्रणाली से ऊपर उठे बल्कि अपना कुछ योगदान भी दिया। कुंचन नम्बियार से १९वीं सदी के मध्य तक का समय मलयालम साहित्य का अपेक्षाकृत अनुर्वर काल था। आगे चलकर हमें कई लेखक आगे आते मिलते हैं, परंतु उनमें से अधिकांश संस्कृत परंपरा की लीक से बंधे रहे। इन्होंने 'महाकाव्य', 'चम्पू' और 'संदेशकाव्य' की शास्त्रीय पद्धतियों में अपने साहित्यिक प्रयोग किए। साथ ही साथ हमें उनपर पश्चिमी साहित्य का प्रभाव भी दिखता है। कुछ ने संस्कृत शब्दों और रूपों को अपनी रचना में निगमित करते हुए अलंकार शैली का प्रचार किया। दूसरों ने आम बोलचाल की सरस और ओजपूर्ण शैली का प्रयोग करते हुए शुद्ध भाषा को बेहतर समझा।

साहित्यका स्वर्ण काल

१८५० के बाद के छः दशकों में हमें काव्य और गद्य के कई प्रमुख लेखक मिलते हैं जिनमें विशिष्ट निम्नवत् हैं :

केरल वर्मा (१८४५-१९१५)	—कवि और विद्वान्
ए० आर० राजराज वर्मा (१८६३-१९१८)	—आलोचक और विद्वान्
कोदुंगल्लूर कुजिकुट्टन तम्पुरान (१८६५-१९१३)	—कवि और अनुवादक
चंद्रु मेनन (१८४७-१९००)] उपन्यासकार
सी० व्ही० रामन पिल्लै (१८५८-१९२२)	
कुमारन आशान (१८७३-१९२४)] आधुनिक युग के कवि
उल्लूर (१८७७-१९४९)	
वल्लत्तोल (१८७८-१९५८)	

यहाँ हम देखते हैं कि उपर्युक्त सभी विद्वान् १९ वीं सदी (अधिकांश उत्तरार्द्ध) में पैदा हुए और उनकी श्रेष्ठ रचनाएँ १८८० से १९३० के बीच लिखी गईं। इस अवधि को मलयालम साहित्य में पुनर्जागरण काल कहा जा सकता है। यदि व्यापक अर्थों में लें तो मलयालम साहित्य में १८५० के बाद का समय स्वर्णकाल है।

हालांकि हमने केवल आठ साहित्यकारों का उल्लेख किया है परंतु कई अन्य भी हैं जिनका विशेष योगदान है। मलयालम साहित्य के उपवन में इस काल में सैकड़ों फूल खिले जिन्होंने इसे एक वास्तविक वसंत दिया। नए रूप और विषयवस्तु, नये दृष्टिकोण और नई अंतर्दृष्टि के साथ यद्यपि कई लोगों ने सामान्य जागरण के विकास में योगदान दिया परंतु वास्तविक पथप्रदर्शक कुछ ही व्यक्तित्व थे। इनमें केरल वर्मा वलिया कोडल तम्पुरान और उनके भतीजे ए० आर० राजराज वर्मा तम्पुरान का स्थान अप्रतिम है। इन्हें साहित्य में इस नए युग का उत्तुंग शिखर माना जाता है।

केरल वर्मा को साहित्य सम्राट माना जाता था। संस्कृत और मलयालम में अपनी गहन विद्वता, अपने काव्यात्मक अवदान, साहित्य और शिक्षा की सेवा में अपनी अभिरुचि तथा साथ ही सत्ताहृद परिवार का नज़दीकी संबंधी होने के कारण उन्हें जो प्रतिष्ठा मिली वह उनसे पहले या बाद में, अन्य किसी को नहीं मिली। कवि के रूप में उन्होंने संस्कृत परंपरा के आनंद और गांभीर्य का आस्वाद लिया था परंतु वह अंग्रेजी ढंग की शिक्षा से भी प्रभावित थे और पाठ्यक्रम समिति के सदस्य की हैसियत से उन्होंने छात्रों को सीधी-सरल गद्य-रचना के लिए उत्साहित किया। परंतु अभिजनों के लिए साहित्य लिखते समय उन्होंने स्वयं अलंकार और बनावटी शैली में लिखना उचित समझा जैसा कि

उनके 'अकबर' उपन्यास में दिखता है। ए० आर० राजराज वर्मा वैयाकरण, कवि और आलोचक थे। उनके दिल में अपने चाचा के लिए विशेष सम्मान था। परंतु साहित्य रचना तथा मूल्यांकन के विविध पक्षों को लेकर दोनों में मौलिक असहमति थी। अगले अंशों में हमें संस्कृत रूपवाद की प्रासंगिकता और कल्पना तथा आलंकारिता के संदर्भ में दोनों की मान्यताओं को परखने का अवसर मिलेगा।

मलयालम साहित्य के बृहत् इतिहास (केरल साहित्यचरित्रम्-खंडः ५) में महाकवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर ने निम्नलिखित शब्दों में ए० आर० राजराज वर्मा की उपलब्धियों और उनके जीवन का चित्रण किया है :

'यदि अन्वेषण ने मलयालम साहित्यागार की दीवारों को अपनी रंगकला और चित्रकला से विभूषित किया तो ए० आर० ने उसकी नींव और शिखर पर श्रम किया तथा उसे केरल की जनता के हित के लिए चित्ताकर्षक और चिरस्थायी बनाया। उनकी प्रसिद्धि इसी स्थापत्य-विषयक कौशल पर आधारित है और हमेशा रहेगी। आधुनिक युग में केरल में ऐसा कोई अन्य साहित्यकार नहीं है जिसमें पर्यवेक्षण, मौलिकता तथा रुचिसम्पन्नता की इतनी विकसित शक्ति मौजूद है। ऐसे महामानव किसी भी काल और स्थान में चिरले ही होंगे।'

अध्याय २

रचनाकाल

जिस व्यक्ति के बारे में हम अध्ययन कर रहे हैं उनका पूरा नाम ए० आर० राजराज वर्मा कोइत्तम्पुरान था। राज, वर्मा, तम्पुरान और कोइत्तम्पुरान (कोइल + तम्पुरान) आदि पदों का (तम्पुरान = स्वामी—एक सम्मान-सूचक संज्ञा—जिसका संबंध राजपरिवार या मंदिरों से है—कोइत्तम्पुरान = राजकुमारी के पति के लिए संबोधन) संबंध राजपरिवार से है और ये पद सत्ताहृद वर्ग अर्थात् क्षत्रियों से निकट संबंध के द्योतक हैं। ये पद मलयालम साहित्य में प्रधान रूप से पाए जाते हैं जिससे पता चलता है कि इस छोटे-से समूह ने केरल के सांस्कृतिक जीवन में कितना अधिक योगदान दिया है। राजराज वर्मा का जन्म १८६३ में त्रिवेन्द्रम् से १४० किलोमीटर उत्तर एक घनी आबादी वाले नगर चंगनाशशेरि के लक्ष्मीपुरम महल में हुआ था। मालाबार संवत् के अनुसार उनकी जन्मतिथि ६ कुंभम् १०३८ है। वहाँ जन्म के नक्षत्र के साथ राजपरिवार के व्यक्ति का नामकरण करने की प्रथा है और वर्तमान संदर्भ में यह नाम 'पूरुहृदि' (पूर्वभाद्रम-२५वां नक्षत्र) है।

चंगनाशशेरि के कोइत्तम्पुरानों का दक्षिणी मालाबार में परप्पूर स्वरूपम् के साथ पारिवारिक संबंध था। यह वंश अपनी प्रतिष्ठा तथा पारंपरिक संस्कृति के लिए प्रसिद्ध था। इतिहास में हैदरअली के आक्रमण के समय अत्याचार से बचने के लिए १७६८ में मालाबार से लोगों के ट्रावनकोर भागने का उल्लेख मिलता है। परप्पूर स्वरूपम् के कई परिवारों ने उस समय भ्रम कर ट्रावनकोर राज्य में शरण ली थी। ट्रावनकोर के परोपकारी महाराजा ने उनके साथ इतना अच्छा व्यवहार किया कि क्षेत्र में शांति कायम होने के बावजूद इस वर्ग के अधिकांश लोग वापस जाना नहीं चाहते थे। केवल यही नहीं, उन्हें ऐसा संरक्षण और उदारता देखने को मिली कि आगे चलकर सत्ताहृद परिवार की कई शाखाओं से वैवाहिक संबंध के प्रस्ताव भी आए। राजराज वर्मा का परिवार भी इन्हीं में से एक था।

राजराज वर्मा विशेष सुसंस्कृत माता-पिता की संतान थे। उनकी माता

कुंजिकवु तम्पुराट्टि साहित्य-सम्राट केरल वर्मा की मौसी की पुत्री थी। वह अत्यन्त अच्छे स्वभाव की महिला थीं। उनके पिता पट्टियल इल्लम के वासुदेवन नम्बूदिरि वेदों के महान् ज्ञाता और रसिक प्रवृत्ति के व्यक्ति थे। उन दिनों नंबूदिरियों के वैवाहिक संबंध नायर या क्षत्रियों के प्रतिष्ठित परिवारों से होते थे।

जब कोच्चप्पन (बचपन में राजराज वर्मा का यही नाम था) दो वर्ष के थे तब लक्ष्मीपुरम् महल में किसी गंभीर वैचारिक मतभेद तथा विवाद के कारण परिवार के कुछ सदस्यों ने चंगनाशशेरि से २० किलोमीटर दूर कार्तिकपल्ली में जाकर बसने का निश्चय किया। यहाँ केरल वर्मा और उनके बड़े भाई के सामने कई तरह की कठिनाइयाँ आईं। बाद में लोग सत्ताहृद महाराज की सहायता से हरिप्पाट में एक नए मकान में चले आए। इस नए मकान का नाम 'अनन्तपुरम् महल' रखा गया। यहीं हमारे साहित्य-नायक का बचपन व्यतीत हुआ।

विद्वान् चाचा और कृपालु माता की स्नेहपूर्ण छाया में हालांकि कोच्चप्पन का यह समय कुल मिलाकर खुशहाल रहा परन्तु दो बार दुर्घटनाओं में उनकी जान जाते-जाते बची थी। एक बार तो वह डूबने से बचे। बरसात में घर के निकट स्थित एक तालाब में किसी समय कोच्चप्पन के दिल में अपने एक चचेरे भाई के साथ नौका-विहार की इच्छा हो आई। नाव पर बच्चों के सहायक के रूप में बस एक नौकरानी थी। छोटी-सी नाव उलट गई और तीनों बच्चे उससे लुढ़क गए। किनारे पर बचाकर लाए जाते-जाते बच्चे मृतप्राय-से हो गए थे परन्तु सौभाग्यवश, उचित तरीके से प्राथमिक उपचार के बाद वे बच गए। कोच्चप्पन उस समय मुश्किल से सात वर्ष के होंगे। आगे चलकर उन्हें डूबने की तथा तालाब में ले जाने के लिए नौकरानी पर डाँट पड़ने की घटना याद आई।

दूसरी घटना उस समय हुई जब कोच्चप्पन किसी बाग में खेलकूद रहे थे और वहाँ साँप भरे पड़े थे। उन्हें ऐसा महसूस हुआ कि दाहिने पैर में किसी तेज चीज से चोट लगी हो। शीघ्र ही उन्हें पैर में भारीपन प्रतीत हुआ, फिर भी वह दौड़ कर घर तक गए। कोई गंभीर चोट तो दिखाई नहीं पड़ी परन्तु पैर में लगातार दर्द बना रहा। संभवतः उन्हें साँप ने काट खाया था। किसी तरह सौभाग्य से वह बच गए।

प्रारम्भिक शिक्षा

राजराज वर्मा की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा पारंपरिक तरीके से सुविज्ञ शिक्षकों की देख-रेख में हुई थी। प्रथम गुरु चुनक्करा अच्युत वारियर और शंकर वारियर रहे। इन्होंने उन्हें तीन तरह के दैविक नियमों का ज्ञान कराया। इसके बाद संस्कृत काव्यों का अध्ययन करना था। परन्तु लड़का खिलाड़ी तबियत का और दुष्ट स्वभाव का था तथा पढ़ाई की अपेक्षा खेल में उसकी ज्यादा दिलचस्पी

थी। उस समय के लोकप्रिय खेलों में उसकी विशेष दक्षता के कारण उसके छोटे साथियों ने उसे अपना नेता मान लिया था और वह स्वस्थ युवक सहज ही अपने साथियों के बीच चमकने लगा। हालांकि वह पढ़ाई पर ज्यादा ध्यान नहीं देता था परन्तु मेधा तथा समझदारी के बल पर शिक्षकों द्वारा बताए गए सारे पाठ शीघ्र ही हृदयंगम कर लेता था। इसलिए शिक्षक भी उसे चाहते थे।

इस समय तक राजराज वर्मा के चाचा केरल वर्मा, जो उनसे १८ वर्ष बड़े थे, प्रतिभाशाली लेखक के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। परन्तु सत्ताहृद राजकुमार के साथ कुछ विवाद हो जाने के कारण वह नजरबन्द थे। अतः उन्हें अलेप्पी से हरिप्पाट भेजा गया। यह दुःखद घटना मलयालम साहित्य के लिए लाभकारी सिद्ध हुई और राजराज वर्मा को अपने प्रतिभाशाली चाचा से ही काव्यबंध और संस्कृत की शिक्षा मिलने लगी। इससे भतीजे के व्यक्तित्व के सही विकास में और उसमें शैक्षिक मनोवृत्ति के निर्माण में सहायता मिली। अपरंच, केरल वर्मा के कटु अनुभव ने उनसे 'मयूर संदेशम्' की रचना करवाई। यह एक प्रसिद्ध सन्देश-कविता है, जो कवि के संगी को संबोधित है, जिससे राजकीय अप्रसन्नता के कारण कवि को अलग होना पड़ा था।

राजराज वर्मा को छः वर्षों तक (१८७५-१८८१) अपने चाचा से काव्य-अध्ययन और काव्य-रचना में निर्देश तथा सहायता प्राप्त हुई। उनके दो अन्य शिष्य भी थे जो निकट के संबंधी थे। जिस तरीके से राजराज वर्मा ने अपने पाठ सीखे और उनकी प्रतिभा में निम्नार आया वह एक विशेष घटना से संबद्ध है। इसका यहाँ उल्लेख आवश्यक है। एक दिन शिक्षक ने अपने तीनों शिष्यों को गणपति को आधार बनाकर 'अष्टकम्' (आठ पद) की रचना करके अगले दिन तीन बजे तक लाकर दिखाने का आदेश दिया। अन्य दो शिष्यों ने तुरन्त काम शुरू कर दिया। वे पद रचना में अपना सिर खपाए रहे और श्रमपूर्वक प्रयास करते रहे। खिलाड़ी बुद्धि के कोच्चप्पन को अन्तिम क्षण तक सबक का ध्यान न रहा। जब दो बज गए तो उन्हें सबक का ख्याल आया और कुछ तुकबन्दी उन्होंने शुरू की। बाद में शिक्षक नियत समय पर आ गए और राजराज वर्मा अपने साथियों के साथ वहाँ पहुँचे। पहले शिष्य की रचना में अशुद्धियाँ थीं पर उसे माफ़ कर दिया गया। दूसरे को संतोषजनक काम दिखलाने पर शाबाशी मिली। इसके बाद भयभीत और आशंका से भरे राजराज वर्मा सामने आए। कहे जाने पर उन्होंने हिचकिचाहट के साथ 'अष्टकम्' पढ़ा। उन्हें फिर पढ़ने के लिए कहा गया। इसके बाद शिक्षक ने उनसे कहा कि वह शिक्षक द्वारा रचित 'अष्टकम्' ले आएँ और उसे सस्वर पढ़ें। इसके बाद दोनों एक दूसरे की तरफ़ देखकर हंस पड़े क्योंकि विषयवस्तु और रूप—दोनों संदर्भों में शिक्षक और शिष्य की रचना में विशेष अनुरूपता थी। भतीजे के कौशल पर चाचा

मुग्ध हो गए और भतीजे में गर्व का संचार हुआ। इसके बाद शिक्षक ने एक और चाल चली। उन्होंने दोनों तुकबंदियों को लिखकर उनके बड़े भाई के पास भेजा और लेखक के नाम का संकेत नहीं किया। विद्वान् भाई ने सिद्धहस्त कवि और अपने भाई की तुकबंदी को सहज ही पहचान लिया; साथ ही दूसरे अपरिचित कवि को शाबाशी दी और घोषित किया कि दूसरा अष्टकम् भी उतना ही बेहतर है। बाद में जब नए कवि का परिचय प्रकट हुआ तब हर व्यक्ति ने इस मजाक का आनन्द उठाया और राजराज वर्मा को अच्छे उपहार मिले। यह सब उस अवधि की घटनाएँ हैं जब वह केवल १५ वर्ष के थे।

एक अन्य रोचक घटना श्री एलात्तूर रामस्वामी शास्त्रिकल के महल में आगमन से संबंधित है। श्री शास्त्रिकल केरल वर्मा के गुरु थे और अपने शिष्य के शिष्यों की क्षमता और प्रतिभा को परखना चाहते थे। उन्होंने 'कुवलयानन्दम्' 'अद्यपि तिष्ठति...' से प्रारंभिक श्लोक पढ़ने और इसकी व्याख्या करने के लिए शिष्यों से कहा। राजराज वर्मा ने जिस तरीके से कतिपय पंक्तियों की व्याख्या की और उनकी आन्तरिक सूक्ष्मता को उभारा उससे वृद्ध शिक्षक महोदय चकित रह गए। उन्होंने लड़के को शाबाशी दी। इस तरह के उत्साह पाने से स्वभावतः ही युवक 'सहृदय' को विकसित होने में मदद मिली।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कम उम्र में ही राजराज वर्मा में संस्कृत काव्य-रचनाधर्मिता की प्रतिभा फूट पड़ी। उन्होंने संस्कृत व्याकरण और अलंकारशास्त्र का भी अध्ययन किया और संस्कृत में ऐसी कविताएँ करनी शुरू कीं जिसकी खबर केवल परिवार के ही पारखियों तक नहीं पहुँची बल्कि ट्रावनकोर के महाराज का स्वयं अपने प्रिय चाचा से परिचय हुआ।

१८८० में जब श्री विशाखम तिरुनाल ट्रावनकोर के शासक हुए तब केरल वर्मा का भाग्य पलटा और अनन्तपुरम् महल के सदस्यों को अपेक्षित उत्साह प्राप्त हुआ। शीघ्र ही केरल वर्मा ने अपना आवास त्रिवेन्द्रम में बदल लिया और विशाखम तिरुनाल से, जो एक लेखक और विद्वान् भी थे, निकट रूप में संबद्ध हो गए। यह भी सुझाव आया कि विकासमान कवि ए० आर० भी त्रिवेन्द्रम आकर अपना अध्ययन जारी रखें। राजराज वर्मा दो अन्य छात्रों के साथ त्रिवेन्द्रम के 'चंगनाशशेरि मूत्तु मठम' में रहने लगे और हाई स्कूल में नियमित छात्र के रूप में औपचारिक शिक्षा पूरी की। यहाँ यह बताने की जरूरत नहीं है कि इन सब चीजों का प्रबन्ध केरल वर्मा ने किया था और वह अदम्य उत्साह के साथ उनका मार्गदर्शन करते रहे।

हाईस्कूल में उनकी पढ़ाई १८८१ के बाद तक जारी रही। हालांकि राजराज वर्मा पढ़ाई में तेज थे परंतु उनके कुछ कमजोर पक्ष भी थे। अंकगणित उनके लिए एक हौआ था। परन्तु अंकगणित में नौ से कम अंक पाने के बावजूद

उन्हें औसतन ७० प्रतिशत अंक प्राप्त होते थे। अतः अंग्रेज प्रधानाचार्य की सिफारिश पर विशेष रूप से उनकी प्रोन्नति उच्च कक्षा में हुई। उन्होंने द्वितीय भाषा के रूप में संस्कृत को चुना, लेकिन उन्हें मलयालम भी पढ़ना पड़ा। यहीं आकर मलयालम व्याकरण की ओर पहली बार उनका ध्यान आकृष्ट हुआ। संस्कृत में उनकी ऐसी पैठ थी कि मुंशीजी उन्हें अपने बराबर मानते थे। कई जटिल मुद्दों पर वे एक दूसरे से परामर्श करते। उन दिनों मलयालम भाषा का स्थान गौण था और संस्कृत के लिए उत्सुक राजराज वर्मा भी ऐसा होना ही सही समझते थे। मातृभाषा के प्रति उनकी ऐसी धारणा के पीछे यह कारण भी था कि मलयालम की पाठ्य-पुस्तकें काफी नीरस ढंग की थीं।

प्रबुद्ध महाराजा नई प्रतिभाओं को प्रेरित करना चाहते थे। एक विशेष संदर्भ में उन्होंने एक आकर्षक पुरस्कार की घोषणा की जो उनके द्वारा निर्दिष्ट विषय पर संस्कृत में सर्वोत्तम लेख लिखने वाले को दिया जाने वाला था। छात्रों को आठ पृष्ठ का लेख लिखना था। लेखों को पहले महाराजा स्वयं जांचते थे और फिर उन्हें केरल वर्मा के पास भेजा जाता। हमारे युवा कवि भी इसमें प्रतियोगी थे। केरल वर्मा और महाराज दोनों इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजराज वर्मा का लेख सर्वोत्तम है। यह एक दूसरी घटना थी जिससे उच्च पदाधिकारियों की रुचि उस युवा लेखक में बढ़ी। हाई स्कूल में उनकी पढ़ाई चल ही रही थी और इससे केरल वर्मा को अपने भतीजे को संस्कृत की उच्च शिक्षा देने का अवसर मिला।

विश्वविद्यालय की शिक्षा

खेल-कूद में रुचि रखने के वाले राजराज वर्मा त्रिवेन्द्रम में अपने मित्रों के साथ आनन्दपूर्ण जीवन व्यतीत कर रहे थे। फिर भी, मैट्रिक की परीक्षा में वह बिना किसी कठिनाई के उत्तीर्ण हो गए। इसके बाद जब वह विश्वविद्यालय में पढ़ने की शुरुआत ही कर रहे थे कि अचानक एक गम्भीर विपत्ति आ पड़ी। उनकी माता का (१८८४) देहांत हो गया और इससे उन्हें काफी ठेस लगी। प्यारी माँ का देहांत होने से उन्हें जो तकलीफ हुई उससे एक वर्ष तक उन्हें अपने औपचारिक अध्ययन से विरत होना पड़ा क्योंकि प्रथा के अनुसार सार्वजनिक क्रियाकलापों पर पाबंदी थी। एक वर्ष तक उन्होंने हजामत नहीं कराई और घर में कई तरह की रीतियों का पालन करते रहे। वह अपने अध्ययन का एक वर्ष नष्ट नहीं करना चाहते थे और उन्होंने केरल वर्मा तथा अन्यो को अपनी स्थिति स्पष्ट की। किसी में इतना साहस नहीं था कि उन्हें स्थापित परंपराओं के विपरीत जाने की सलाह देता। अन्त में यह समस्या महाराज के सामने आई। उन्होंने उसे इस तरह सुलझाया कि सभी सहमत हो गए और राहत की सांस मिली।

महाराज के अपने पुत्र श्री नारायण तम्पी मद्रास विश्वविद्यालय से एफ० ए० की परीक्षा देने वाले थे और महल में उनके लिए निजी शिक्षा का प्रबन्ध किया जा रहा था। आदेश यह हुआ कि कोच्चप्पन को भी तम्पी के साथ ही शिक्षा दी जाए। यह वास्तव में स्वागत-योग्य समाधान और आशीर्वाद भी था क्योंकि कोच्चप्पन को इस तरह से देश में उपलब्ध सर्वोत्तम शिक्षा निःशुल्क मिल सकी। परीक्षा देने के लिए मद्रास विश्वविद्यालय से विशेष अनुमति ली गई और अनुमति मिलना कोई समस्या नहीं थी क्योंकि राज्य के शासक ही स्वयं इसमें रुचि ले रहे थे। दुर्भाग्यवश विशाखम तिरुनाल शीघ्र ही चल बसे इसलिए बाद में राजराज वर्मा को महाराज के महाविद्यालय में भरती होना पड़ा। उन्होंने एफ० ए० की परीक्षा १८८६ में उत्तीर्ण की।

इसके बाद वह बी० ए० में भरती हुए। पहले की तरह ही उनकी खेलकूद में रुचि बनी रही। टेनिस में उनकी विशेष रुचि थी और यह खेल उन दिनों त्रिवेन्द्रम में लोकप्रिय हो रहा था। तैरने में भी उन्हें आनंद मिलता था। पाठ्य-पुस्तकों पढ़ने में समय व्यतीत करने की अपेक्षा वह रोचक साहित्यिक कृतियाँ पढ़ा करते, काव्य-रचना का आनंद उठाते और 'अक्षरश्लोक' प्रतियोगिताओं में शामिल होते। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास हुआ, हालांकि पाठ्यक्रम के अध्ययन पर वह पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाये। बी० ए० की परीक्षा में वह अंग्रेजी और संस्कृत में तो योग्यता के साथ उत्तीर्ण हुए परन्तु रसायनशास्त्र में फेल हो गए जब कि यह वैकल्पिक विषय था। यह विफलता प्रायोगिक परीक्षा में थी। उन्होंने निजी अभ्यर्थी के रूप में रसायनशास्त्र की पुनः परीक्षा दी और उत्तीर्ण हो गए। राजराज वर्मा की तत्कालीन डायरी से स्पष्ट होता है कि शैक्षणिक विषयों पर वह स्वयं जितना ध्यान देते थे उससे वह संतुष्ट नहीं थे। परन्तु किसी विषय पर यदि वह ध्यान केन्द्रित करते तो सरलता से उसपर अधिकार भी कर लेते। यही वजह था कि बी० ए० (जूनियर) के अंतिम वर्ष की परीक्षा में उन्हें प्रथम स्थान और पुरस्कार मिला। कविता के रूप में संस्कृत के प्रश्नों का उत्तर लिखकर परीक्षकों को आश्चर्य में डालने से उन्हें आनंद आता था। इन सारी चीजों से पता चलता है कि वह एक असाधारण छात्र थे।

बी० ए० की परीक्षा में विफलता से राजराज वर्मा को गहरी ठेस लगी थी, परन्तु संस्कृत में २८ श्लोकों की एक काव्य-रचना करके उन्हें सांत्वना और राहत मिली। इस शोक-प्रधान लघु-कविता का शीर्षक 'भंग विलापम्' था। उनकी निजी डायरी की टिप्पणियों से पता चलता है कि अध्ययन की ओर ध्यान केन्द्रित न कर पाने से वह निराश-से थे। उनकी डायरी में रसायनशास्त्र की प्रायोगिक परीक्षा देने के लिए मद्रास तक की तकलीफदेह यात्रा से संबंधित रोचक टिप्पणियाँ हैं। उन थोड़े-से लड़कों को सेन्ट्रल ट्रावनकोर से मद्रास पहुंचने में पूरा

एक सप्ताह लग गया। उन दिनों पोरनूर स्टेशन से ही ट्रेन मिल सकती थी। इस जगह तक वे कुछ दूर तो नाव से और फिर बेलगाड़ी से आए। इससे हम सहज ही सोच सकते हैं कि उन दिनों मान्यताप्राप्त विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए दूर-दराज के छात्रों को कितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था।

विवाह

राजराज वर्मा इतने सुयोग्य वर थे कि महाराज विशाखम तिरुनाल की भी उनपर अपनी लड़की के लिए नजर थी। परन्तु उनके असमय देहांत से तथा अन्य कारणों से यह उद्देश्य पूरा न हो सका। बड़े भाई कोइत्तपुरान ने सही वक्त पर पहलकदमी की और कुछ ऐसी योजना बनी कि १८८९ में राजराज वर्मा का विवाह पारंपरिक रीति से उनकी तीसरी पुत्री स्वाती तिरुनाल महा-प्रभा थम्पुराट्टि से हो गया। यह विवाह काफ़ी सुखद रहा और थम्पुराट्टि के दिल में अपने पति के लिए अगाध स्नेह और श्रद्धा थी।

२६ वर्ष के राजराज वर्मा अब एक विद्वान्, विकासमान कवि और परिपक्व व्यक्ति थे। अभी उन्हें रसायनशास्त्र की परीक्षा में उत्तीर्ण होना था और दूसरे प्रयास में बिना किसी कठिनाई के वह सफल हो गए। इस प्रकार हमारे नायक मलयाली क्षत्रिय समुदाय के पहले स्नातक थे। इस समुदाय को निःसन्देह अपने पंडितों और विद्वानों पर गर्व था परन्तु वे औपचारिक संस्थानों में शिक्षा ग्रहण करने से परहेज करते थे और प्रायः घर पर ही उनका निजी शिक्षण होता था। इस शिक्षा का अपना एक अलग ही स्तर था। अतः राजराज वर्मा के मद्रास विश्व-विद्यालय (उन दिनों दक्षिणी भारत में केवल यही एक विश्वविद्यालय था) का स्नातक हो जाने के बाद समुदाय के लोगों के बीच बड़ा आनंद रहा। इस अवसर पर उन्हें कई भेंट-उपहार मिले जिनमें सर्वाधिक कीमती महाराज श्री मूलम तिरुनाल द्वारा दिया गया हीरों से जड़ित सोने का हार था।

प्रारम्भिक रचनाएँ

कवि द्वारा संस्कृत में रचना करने के संदर्भ में हम पहले ही उनके प्रारम्भिक प्रयासों का उल्लेख कर चुके हैं। एम० ए० की परीक्षा देकर मद्रास से लौटने के शीघ्र बाद 'विमानाष्टकम्' की रचना हुई थी। यह कविता किसी अंग्रेज द्वारा गैस से भरे वायुयान में बैठकर आकाश में उड़ने के प्रयोग पर आधारित थी। इसमें दर्शकों के कौतूहल का अच्छा वर्णन किया गया है। जैसा कि शीर्षक से ही पता चलता है, 'पितृ प्रलापम्' एक पिता का मर्मगीत है। राजराज वर्मा की द्वितीय पुत्री के निधन पर आधारित संस्कृत में लिखा यह एक हृदयद्रावक शोक-

गीत है। इस अवधि की उनकी कुछ और भी कविताएँ हैं। इनमें कुछ कविताएँ मित्रों के अनुरोध पर तथा कुछ पत्रिकाओं के लिए लिखी गई हैं। कतिपय कविताओं के शीर्षक हैं: 'देवीमंगलम्', 'सरस्वती स्तवम्', 'रागमुद्रासप्तकम्', 'श्रीपद्मनाभपंचकम्' और 'देवीदंडकम्'। इसके बाद 'गैरवाणीविजयम्' शीर्षक एकांकी है जिसमें अंग्रेजी की तुलना में संस्कृत के गौरव का वर्णन किया गया है। 'ओथेलो' का अनुवाद 'उद्दालचरितम् गद्यम्' शीर्षक से प्राप्त होता है। इन सभी रचनाओं के संस्कृत में होने का तथ्य विशेष उल्लेखयोग्य है। अपनी मातृ-भाषा में रचना की ओर ध्यान देने में उन्हें और अधिक समय लगा। १८६४ की उनकी डायरी से पता चलता है कि उनके जीवन का उद्देश्य मातृभाषा मलयालम का विकास करना था।

केरल वर्मा के सुझाव पर वह 'मलयाल मनोरमा', 'ब्रह्म विद्या', 'विज्ञान चिन्तामणि', 'विद्याचिनोदिनी' आदि मलयालम की पत्रिकाओं को रचनायें भेजने लगे। उन्होंने संस्कृत, मलयालम और कभी-कभी अंग्रेजी में रचनायें लिखीं।

अध्याय ३

शिक्षक और शोधकर्ता

बड़े लोगों के साथ सम्पर्क होने के बावजूद राजराज वर्मा सम्पन्न नहीं हो पाए। छात्र-जीवन में उन्हें अपने परिवार से जो धन मिलता था वह उनके उचित खर्च के लिए भी मुश्किल से ही पर्याप्त होगा। चाचा केरल वर्मा बराबर उनकी सहायता किया करते और महाराज भी उन्हें उदारतापूर्वक धन देते, परन्तु राजराज वर्मा आत्मनिर्भर होना चाहते थे। अतः स्नातक होने के बाद वह राजकीय सेवा में नियुक्त होने के इच्छुक हो गए। उन दिनों राजकीय सेवा में जाना क्षत्रिय समुदाय के लोगों की परंपरा के विरुद्ध था। अतः रुढ़िवादी प्रतिक्रिया-वादियों की उस समय तयोरियां चढ़ गईं जब उन्हें पता चला कि राजराज वर्मा सरकारी नौकरी करना चाहते हैं। परन्तु राजराज वर्मा को इस निरर्थक पूर्वाग्रह की कोई विशेष परवाह नहीं रही।

उस समय राज्य सरकार ने त्रिवेन्द्रम में एक संस्कृत पाठशाला खोलने का निश्चय किया। यद्यपि इस संस्था के भविष्यनिर्माता के रूप में राजराज वर्मा एक स्वाभाविक विकल्प थे, परन्तु उनकी अल्प आयु थी इसे और एक दोष के रूप में इंगित किया गया। लेकिन अंत में (१८६०) उन्हें पाठशाला का प्रधानाध्यापक नियुक्त किया गया। उस समय कोई निर्दिष्ट पाठ्यक्रम, समय सारणी या प्रणाली नहीं थी। राजराज वर्मा ने इन चीजों की योजना बनाई और संस्कृत पाठशाला के स्तर को ऊंचा किया। गैर-ब्राह्मणों को संस्कृत शिक्षा देने का दायित्व इस पाठशाला को सौंपा गया था।

इस नई नौकरी की वजह से ए० आर० का त्रिवेन्द्रम में स्थायी रूप से रहना आवश्यक हो गया। अपने स्कूल में उन्हें दो प्रसिद्ध विद्वानों श्री नारायण शास्त्रिकल और गणपति शास्त्रिकल का अध्यापक के रूप में सहयोग मिला। केरल वर्मा के कहने पर राजराज वर्मा ने पहले से ही निजी अभ्यर्थी के रूप में संस्कृत से एम० ए० की परीक्षा के लिए अपना पत्रांकन करा रखा था। परन्तु व्यस्तताओं के कारण उनके निजी अध्ययन में संतोषजनक प्रगति नहीं हो रही थी। वह बहुत व्यस्त जीवन जीना और आनन्द से दूर रहना भी नहीं चाहते थे।

शतरंज और ताश खेलना, घुड़सवारी करना और अपने अन्य शौकों को पूरा करना उनके लिए जरूरी था। ए० ए० के लिए उन्हें एक प्रबंध लिखना था जिसका विषय 'नारायण भट्ट और उनकी रचनाएँ' तय किया गया। कुछ हद तक उनके दो विशिष्ट मित्रों ने इस कार्य में उनकी सहायता की। हालांकि दोनों मित्र शास्त्रीय ढंग के अच्छे विद्वान् थे परन्तु अनुसंधान कार्य में न तो वे प्रशिक्षित थे और न ही उसके योग्य। उनमें अपेक्षित कुशाग्रता भी नहीं थी। अतः ए० आर० को मुख्यतया अपने-आप पर ही निर्भर करना था। उन्होंने 'इंडियन एंटीक्वेरी' जैसी पत्रिकाओं के अंकों में उपलब्ध उपयोगी सामग्रियों का गहरा अध्ययन किया। अन्त में एक अत्युत्तम प्रबंध लिखने में वह सफल हो गए। १८९१ में उन्होंने परीक्षा दी और विश्वविद्यालय में उन्हें प्रथम स्थान मिला, हालांकि उन्हें द्वितीय श्रेणी ही प्राप्त हुई थी। उन दिनों ऐसे प्रतिभाशाली छात्रों के लिए भी प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होना अत्यंत कठिन था। उनके प्रश्नोत्तरों से मुख्य परीक्षक श्री शेवगिरि शास्त्री इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने ए० आर० की उत्तर पुस्तिकाओं को सुरक्षित रखे जाने का विश्वविद्यालय को सुझाव दिया। एक प्रश्नोत्तर में छात्रों से ऐसे १२ शब्द लिखने के लिए कहा गया था जो ग्रीक भाषा से संस्कृत में लिए गए हों। इस छात्र ने १२ के बदले ऐसे ३० शब्द लिख डाले जिससे परीक्षक चकित रह गए। मिल्टन की कविताओं के कुछ पृष्ठों का इस अभ्यर्थी ने उत्तम कोटि के काव्य में अनुवाद किया। संस्कृत में योग्यता के लिए उन्हें 'रास स्वर्ण पदक' और 'मुनि स्वामी चेट्टी पदक' प्राप्त हुए।

संस्कृत महाविद्यालय

१८९४ में राजराज वर्मा संस्कृत महाविद्यालय के प्रधानाचार्य नियुक्त हुए। यहाँ उन्होंने अपना ध्यान मुख्यतः महाविद्यालय के विकास और उसके पाठ्यक्रम में सुधार करने की ओर लगाया। उन्होंने सरकार के पास कई सिफारिशें भेजीं जिनमें कुछ पर बहुत बाद में विचार किया गया। वह पाठ्यक्रम में साहित्य, आयुर्वेद और ज्योतिष शामिल करना चाहते थे। उनके अनुसार राष्ट्रीय कला, साहित्य और विज्ञान की प्रमुखता दी जानी चाहिए थी। पाठ्यक्रम में उन्होंने भूगोल, इतिहास, बीजगणित और ज्यामिति शामिल किया। उन्होंने बीजगणित और ज्यामिति केवल पढ़ाया ही नहीं बल्कि इन विषयों के ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद भी किया। उन दिनों अंग्रेज प्राध्यापकों तथा अन्यो के विचारों को निर्णय-समितियों में प्रधानता दी जाती थी। परन्तु इतिहास हमें बताता है कि इस विद्वान् की सभी सिफारिशें एक के बाद एक करके स्वीकार कर ली गईं, हालांकि इस कार्य में लगभग २५ वर्ष लग गए।

एक तरफ 'गैरवाणी विजयम्' और दूसरी तरफ 'उद्दाल चरितम्' से स्पष्ट

होता है कि इस लेखक के मस्तिष्क में विश्व की दो महान् भाषाओं—संस्कृत और अंग्रेजी के संदर्भ को लेकर कैसा द्वंद्व होता था। उनकी अल्पविकसित मातृ-भाषा मलयालम के विकास के लिए इन दो भाषाओं से ग्रहण की जाने वाली बहुत-सी चीजें थीं। वह दो शास्त्रियों को अंग्रेजी पढ़ाया करते। इनमें एक थे श्री गणपति शास्त्री जो बाद में शास्त्रीय ग्रंथों के प्रसिद्ध संपादक हुए। उन दिनों की उनकी डायरी के पन्नों और टिप्पणियों से पता चलता है कि ए० आर० शिक्षा-क्षेत्र में अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिए काफ़ी चिंतित थे और उन्हें अधिकारियों से कई तरह की बाधाएं ही मिलती थीं। उन्होंने मद्रास में सुयोग्य पद पर नियुक्ति के लिए भी प्रयास किया था। उन दिनों क्षेत्रीय भाषाओं को अपेक्षाकृत गौण स्थान प्राप्त था। अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित अनेक उच्चस्तरीय व्यक्तियों के समक्ष हमेशा यह प्रश्न उपस्थित रहता था कि 'मलयालम में ज्ञान के लिए क्या है?' संस्कृत के विशेषज्ञ ए० आर० दूरदर्शितापूर्वक मलयालम के भविष्य पर विचार किया करते। इस कार्य में उन्हें चाचा केरल वर्मा से मदद मिली। ए० आर० के जीवन में अगली प्रगति से उन्हें यह सोचने का अवसर मिला कि साहित्य को जीवन में 'मनोरंजन' के अतिरिक्त और भी महत्वपूर्ण भूमिकाएं पेश करनी हैं।

भाषा अध्ययन के अधीक्षक

१८९६-१८९८ की अवधि में सरकार ने आयुर्वेद संस्थान के प्रमुख और प्रधानाचार्य के कार्य को समन्वित करने का प्रस्ताव नामंजूर कर दिया। इसके बाद निदेशक का पद रिक्त हो जाने पर पुरातत्त्व विभाग को संस्कृत महाविद्यालय के साथ संबद्ध कराने के प्रस्ताव की भी वही गति हुई। उस अवधि तक दक्षिण भारत में राजराज वर्मा की योग्यता और विद्वत्ता अच्छी तरह प्रतिष्ठित हो चुकी थी। परन्तु सत्कारुड् दीवान का समर्थन आवश्यक था। ए० आर० के प्रस्ताव को तब मान्यता मिली जब कृष्णस्वामी राव ट्रावनकोर के दीवान नियुक्त हुए और राजराज वर्मा को महाराजा के महाविद्यालय में भाषा अध्ययन के अधीक्षक का पद दिया गया। १८९९ में ए० आर० ने संस्कृत महाविद्यालय का कार्यभार श्री गणपति शास्त्री को सौंप दिया और नई नौकरी स्वीकार कर ली।

नई नौकरी में हमारे इस महान् विद्वान् के लिए नई संभावनाओं के द्वार प्रशस्त हुए। उन्होंने महसूस किया कि उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भारतीय भाषाओं की स्थिति संतोषजनक नहीं है। पाठ्यक्रम के नियोजन में खामियां थीं, पाठ्यपुस्तकें संतोषप्रद नहीं थीं और भाषा की कक्षा में पढ़ने वाले छात्र अध्ययन में पर्याप्त ध्यान नहीं देते थे। यहीं आकर राजराज वर्मा का योगदान वस्तुतः स्मरणयोग्य हुआ और अपने शिखर पर पहुँचा। उपलब्ध पुस्तकों में से अच्छी

पुस्तकें निर्धारित की गईं, नई पुस्तकें लिखी गईं और पाठ्यक्रम में सुधार किया गया। उन्होंने स्वयं एफ० ए० (कला की पहली परीक्षा) और बी० ए० के छात्रों को पढ़ाया। ज़रूरत पूरी करने के लिए उन्होंने स्वयं व्याकरण, काव्यशास्त्र और छन्दशास्त्र की नई पुस्तकें लिखीं। उन्होंने छात्रों को पढ़ाने के लिए अपने ही सहयोगियों का निर्देशन किया जिनमें कुछ उनके प्रिय छात्र रहे, जैसे कि साहित्य पंचानन पी० के० नारायण पिल्लै। आगे चलकर हम ए० आर० की महत्त्वपूर्ण पुस्तकों पर चर्चा करेंगे।

भारतीय भाषाओं के प्रवक्ता

उन दिनों मातृभाषा को 'द्वितीय भाषा' का दर्जा प्राप्त था और इसका अध्ययन काफ़ी पिछड़ा हुआ था प्रथम भाषा और अध्ययन का सबसे महत्त्वपूर्ण विषय अंग्रेज़ी थी। इस भाषा के अध्ययन में छात्र विशेष ध्यान देते थे। जब छात्रों के समक्ष उनकी अपनी भाषा का प्रश्न आता तो उनमें वितृष्णा का भाव दिखाई पड़ता। हम सारा दोष छात्रों पर ही नहीं मढ़ेंगे। इसके पीछे अनेकों कारणों का सामूहिक प्रभाव था जिनमें से कुछ की ओर पहले ही संकेत किया गया है। द्वितीय भाषा के अध्ययन से दूर रहने के लिए एक आंदोलन भी चला जो थोड़े दिनों के लिए सफल दिखाई पड़ा था, परन्तु स्थिति शीघ्र ही बदल गई। राजराज वर्मा के कार्यकाल में ही विश्वविद्यालय के स्तर पर मलयालम को अध्ययन का एक सम्मानजनक विषय माना गया। इस संदर्भ में बदलाव के लिए उनकी महान् विद्वत्ता, प्रशंसनीय दृष्टिकोण और अथक श्रम ही मुख्य रूप से उत्तदायी थे। उन्होंने भारतीय भाषाओं की मान्यता के लिए समाचार-पत्रों तथा विभिन्न मंचों और साथ ही विश्वविद्यालय की शैक्षणिक समितियों में संघर्ष किया। चूंकि आज़ादी के बाद हमारी भाषाएँ एक विचित्र परिवेश में रही हैं अतः उन दिनों मौजूद भाषा की स्थिति पूरी तरह समझने के लिए किंचित् कल्पना की आवश्यकता होगी।

एक महान् नियोजक और दूरदृष्टा के रूप में ही नहीं, बल्कि शिक्षक के रूप में भी राजराज वर्मा अप्रतिम थे। पी० अनन्त पिल्लै तथा पी० के० नारायण पिल्लै जैसे उनके कई छात्रों ने उनकी अध्यापन-प्रतिभा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। मेधावी छात्र आत्मविस्मृत होकर उनकी कक्षा में बैठते थे। कम मेधावी छात्रों को भी उनकी कक्षाएँ पर्याप्त रोचक प्रतीत होती थीं। भाषा की कक्षा से छात्रों को दूर रहना या कक्षा में सोते रहना उस समय भी छात्रों के लिए अस्वाभाविक न था। एक विशिष्ट प्राचीन छात्र ने तम्पुरान की कक्षा के बारे में अपना अनुभव निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है :

'बी० ए० की कक्षा में भरती होने के लिए मैं त्रिवेन्द्रम गया। हमेशा की

तरह मैंने सोचा कि मलयालम की कक्षा में मैं या तो सोऊंगा या निजी पत्र लिखूंगा। उसी अवधि में मुझे मंच पर किसी महान् आकृति को देखने का सुखद आश्चर्य मिला। उनके शब्द इतने रोचक और साधक थे कि उन्होंने मुझे अवाक् कर दिया। बाद में जाकर मुझे पता चला कि शिक्षक महोदय प्रसिद्ध केरल पाणिनी प्रोफ़ेसर तम्पुरान थे। अगले दो वर्षों में मैंने उनकी कक्षा में अपने तीर-तरीके पूरी तरह बदल दिए। उनकी कक्षा में प्राप्त होने वाला मेरा यह अनुभव विरल था।'

तम्पुरान की कर्तव्यानुभूति से सभी परिचित थे। उनकी पहली प्रतिबद्धता अध्ययन और अध्यापन की निगरानी करनी थी। उन्होंने 'मलयाल समाजम्' की तरह छात्रों को पढ़ाई के अतिरिक्त अन्य क्रियाकलापों को संगठित करने के लिए उत्साहित किया। महाविद्यालय के विद्यार्थी तथा विशिष्ट विद्वान् भाषण देते और विचार-विमर्श में भाग लेते थे। हालांकि उन दिनों सत्रकालीन परिस्वाद या गोष्ठियाँ नहीं होती थीं, परन्तु उनमें उनकी रुचि थी। तम्पुरान इन सभाओं में बराबर शामिल होते और वहाँ अंत तक बैठे रहते। छात्रों के लिए, जिनमें कुछ उदीयमान लेखक भी थे, यह अत्यन्त प्रेरणाप्रद चीज थी।

यह स्वाभाविक ही है कि जो अच्छा विद्यार्थी होता है वही अच्छा शिक्षक भी होता है। जिस तरह राजराज वर्मा मलयालम के सर्वोत्तम शिक्षक थे उसी तरह वह ऐसे सर्वोत्तम छात्रों में एक थे जिनपर सदियों तक भाषा को गर्व रहेगा। वह जीवन-पर्यन्त शिक्षा में विश्वास करते थे। हालांकि मूलतः उनका संस्कृत से प्रेम रहा और मलयालम के प्रति वह अन्यमनस्क से रहे; परन्तु परिस्थितियाँ ऐसी आईं कि जीवन के अंतिम २५ वर्षों में उन्होंने मलयालम में ही अधिकाधिक लिखा। परन्तु ज्ञान और प्रेरणा का स्रोत अंग्रेज़ी और संस्कृत ही बनी रही। जिन पुस्तकों को वह प्रतिदिन पढ़ते थे उनमें 'महाभारत' और 'भगवद्गीता' शामिल थीं। ज्योतिष में उन्होंने अपना अनुसंधान जारी रखा। काव्यशास्त्र तथा साहित्यिक विज्ञान के अन्य पक्षों के संदर्भ में उन्होंने संस्कृत और अंग्रेज़ी की रचनाओं का खुलकर प्रयोग किया। उनकी मान्यता थी कि जो व्यक्ति आधुनिक मलयालम साहित्य कि अभिवृद्धि चाहता है उसके लिए अंग्रेज़ी साहित्य की विस्तृत जानकारी लाभकारी होगी। उनकी डायरी में जिन रचनाओं की सराहना की गई है उनमें शेक्सपीयर के नाटक, फ्रायड के लेख, मैकाले का इंग्लैंड का इतिहास, स्काट और थॉकरे के उपन्यास, शापेनहावर के 'विजडम आफ़ लाइफ़' प्रमुख हैं।

अवसर आने पर वह अन्य विद्वानों के साथ साहित्य और भाषा-विज्ञान की रोचक समस्याओं पर विचार-विमर्श किया करते। महत्त्वपूर्ण मलयालम व्याकरण 'केरल पाणिनीयम्' की रचना करते समय उन्होंने महाकवि कुन्ही-

कुट्टन तम्पुरान को मूल क्रियाओं की सूची दिखाई और अपने विचारों से उन्हें अवगत कराया। अपनी कविताएँ वह प्रायः तुखूर नारायण शास्त्रिकल को दिखाया करते। इन चीजों से उनकी विनम्रता और अपनी भाषा के लिए सर्वोत्कृष्ट रचना करने की उनकी कामना का पता चलता है। उनके लेखन से स्पष्ट है कि उनमें कतई शुष्कता नहीं थी। उन्हें नाटक लिखने और अभिनय करने में आनन्द आता था। उन्होंने कई संस्कृत नाटकों का मलयालम में अनुवाद किया है—प्रथमतः अनुसंधान कार्य से राहत के लिए और द्वितीयतः अपने मित्रों तथा सहयोगियों के मनोरंजन हेतु।

अध्याय ४

जीवन का चरमोत्कर्ष

राजराज वर्मा का शैक्षणिक जीवन २८ वर्षों तक चला। यह जीवन निचली सीढ़ी से शुरू हुआ और २० वर्षों में उच्चतम शिखर तक पहुँचा। उन दिनों किसी प्रथम श्रेणी के महाविद्यालय में प्रोफेसर का पद प्राप्त करना और वह भी भारतीय भाषा जैसे उपेक्षित विषय का, वास्तव में एक महान् उपलब्धि थी। उस समय यह पद अंग्रेजों के लिए ही सुरक्षित था। उन्हें स्वाभाविक तौर पर असाधारण सम्मान मिला। १९१० में उन्हें संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं का प्रोफेसर नियुक्त किया गया। यह खबर सुनकर केरल वर्मा इतने आनंदित हुए कि उन्होंने भतीजे को बघाई का तार भेजा जिसे पाकर वह गद्गद हो उठे। शुभेच्छुओं और मित्रों के अनेकों संदेश मिले और सारा परिवार आनन्दोल्लास से भर गया।

उनकी पाँच वर्षों (१९१०-१९१५) की प्रोफेसरी उतनी निर्विघ्न नहीं थी। महाविद्यालय परिषद् की बैठकों में यूरोपीय प्रोफेसरों के विचार तम्पुरान से मेल नहीं खाते थे। प्रारंभ में उन्होंने दो नए पदों पर नियुक्ति करनी चाही—एक संस्कृत के लिए और दूसरा मलयालम के लिए। इसका विरोध तो हुआ परंतु वह सफल रहे। इस तरह प्रसिद्ध विद्वानों नन्तियार वीट्टिल परमेश्वरन पिल्लै और आट्टूर कृष्ण पिषारोटि की महाराजा के महाविद्यालय (त्रिवेन्द्रम) में नियुक्ति हुई। ऐसे समर्पित शिक्षकों और विद्वानों ने मलयालम में विशेषज्ञता हासिल करने आए कई अच्छे छात्रों को आकर्षित किया। इससे विभाग के सामान्य स्तर में सुधार होने लगा।

अंग्रेज और भारतीय प्रोफेसरों के वेतनमान में भी अंतर था। अंग्रेज प्रोफेसर को जहाँ ७५० रुपए मिलते थे वहाँ भारतीय प्रोफेसरों को ४५०। तीन वर्षों तक तर्क-वितर्क करने और लिखा-पढ़ी करने के बाद यह अंतर मिटाया जा सका। उन दिनों केवल अंग्रेजों की ही नियुक्ति प्रधानाचार्य के रूप में हो सकती थी। १९१३ में जब राजराज वर्मा आठ दिनों के लिए कार्यकारी प्रधानाचार्य बने तो इसे एक विशिष्ट घटना कहा गया। कार्यकारी प्रधानाचार्य के रूप में कार्य करने के उन्हें

दो अन्य अवसर मिले—एक बार १९१६ में सात माह के लिए और दूसरी बार १९१८ में तीन माह के लिए।

सुधार के लिए उत्साह

राजराज वर्मा भारतीय भाषाओं के प्रति मद्रास विश्वविद्यालय के रवैए से विलकुल ही खुश नहीं थे। इस रवैए की हर तरह से आलोचना करने का कोई अवसर वह नहीं चूकते थे। १९१४ में उन्होंने महाविद्यालय में स्थापनादिवस के अवसर पर अध्यक्षीय भाषण किया। सावधानीपूर्वक अंग्रेजी में तैयार किया गया उनका यह अध्यक्षीय भाषण मुद्रित कराया गया और उसकी प्रतिर्मा विश्व-विद्यालय में सिण्टीकेट, सीनेट तथा अन्य समितियों के सदस्यों को भेजी गई। नीचे उनके भाषण से कुछ प्रासंगिक उद्धरण दिए जा रहे हैं जो मद्रास विश्व-विद्यालय में द्वितीय भाषा के अनिवार्य अध्ययन को समाप्त करने से संबंधित हैं:

‘...दक्षिण भारत की कुछ भाषाओं में वास्तव में इस समय गद्य की ऐसी पाठ्य-पुस्तकें नहीं हैं जो परीक्षा के उच्च स्तर के अनुरूप हों। जो थोड़ी-सी पुस्तकें हैं भी वे अंग्रेजी साहित्य की श्रेष्ठ पुस्तकों की तुलना में गुण की दृष्टि से नहीं आ सकतीं। समस्या तब और बढ़ती जाती है जब अध्ययन समितियाँ विभिन्न परीक्षाओं के लिए उपलब्ध श्रेष्ठ पुस्तकों को पाठ्य-पुस्तक के रूप में निर्धारित नहीं करतीं। इसके अतिरिक्त निर्धारित पुस्तकों को पढ़ाने वाले पंडित आधुनिक आलोचना के अनुरूप उन्हें नहीं पढ़ा पाते और ऐसी परिस्थिति छात्रों के मन में विषय के विरुद्ध पूर्वाग्रह पैदा कर देती है। विश्वविद्यालय के परीक्षक कभी-कभी ऊलजलूल और खीझ पैदा करने वाले प्रश्न-पत्र तैयार करते हैं जो विषय की लोकप्रियता को हानि पहुंचाते हैं।’

विफलता की स्वीकृति के रूप में यह उन दिनों की स्थिति का बेवाक और सटीक विश्लेषण है। देशज संस्कृति के समर्थकों ने इस प्रश्न पर पुनर्विचार के लिए हो-हल्ला मचाया। इसके बारे में राजराज वर्मा का मन्तव्य निम्नवत् था:

‘उनका तर्क था कि द्वितीय भाषा के अध्ययन में संशोधन की आवश्यकता है, उसे समाप्त नहीं करना है... यह (विफलता) स्वयं भाषाओं का दोष नहीं। इसका सीधा-सा कारण यह है कि इन्हें कभी आजमाइश का अवसर नहीं दिया गया। अधिकांश महाविद्यालयों में द्वितीय भाषा के सुयोग्य अध्यापन के कभी पर्याप्त प्रावधान नहीं किए गए। यह कार्यभार अधभूखे और प्राचीन रुढ़ि वाले पंडितों को दिया गया जो कम से कम वेतन पर सेवा करने के लिए तत्पर थे। परिणामतः छात्रों की नजर में कई तरह से इन विषयों की प्रतिष्ठा लुप्त हो गई। इस भांति भाषा का सर्वनाश किया गया। अतः वास्तविक समाधान व्यवस्था के दोषों को दूर करने में है, न कि विषय को ही समाप्त करने में।’

इसके बाद उन्होंने अपनी मातृभाषा की प्रगति का संक्षिप्त व्यौरा पेश किया:

‘अन्य भाषाओं के समान मलयालम में बहुत हाल में जो गद्य-साहित्य सामने आया है, उसे देखिए। यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से निस्सन्देह विश्वविद्यालय की उपलब्धि है। भाषा में साहित्यिक आलोचना, सामान्य विज्ञान तथा आधुनिक रचि के अन्य विषयों की रचनाओं की अभिवृद्धि पर नजर डालिए जिसे कभी सुना भी न गया होगा। यह विश्वविद्यालय के स्नातकों का कार्य है जिन्हें अंग्रेजी तथा उनकी अपनी मातृभाषा में समन्वित प्रशिक्षण और निर्देशन मिला है। इन ‘उपाधियों’ (ओरिएण्टल टाइटिल एक्जामिनेशन) की योजनाओं से स्पष्ट होगा कि इनका उद्देश्य है—पण्डितों को आधुनिक बनाना, उनकी हठधर्मिता को नष्ट करना और बुराईयों के लिए उनकी क्षमता को कम करना...’।

‘मुझे आश्चर्य होता है कि विश्वविद्यालय के नए पाठ्यक्रम में भी अंग्रेजी से भाषा में अनुवाद या भाषा से अंग्रेजी में अनुवाद कार्य को सभी वर्गों में आवश्यक क्यों नहीं रखा गया...’।

इसके बाद इन्होंने जनता के ऐसे दो वर्गों के पोषण के खतरों की ओर संकेत किया, जो एक दूसरे के प्रति पूर्ण अलगाव और समझौता विहीनता का रख-रखते हों। इनमें से बहुसंख्यक वर्ग अंग्रेजी तथा सामान्य ज्ञान से अपरिचित है और अल्पसंख्यक वर्ग को अपनी पाश्चात्य शिक्षा का घमंड तो है, परन्तु वह युगो-युगों की परम्पराओं से स्वयं को दूर रखते हुए अराष्ट्रीय हो गया है।

अंत में उन्होंने कहा:

‘चूंकि देशी भाषा ही हमेशा जनता की भाषा रहेगी, अतः देशी भाषा में समानांतर रचनाकर्म के माध्यम से उस परिष्करण प्रक्रिया का पूरक प्रयास करना वांछनीय है, जिसे अंग्रेजी शिक्षा भारत में निर्देशित कर रही है। इस प्रकार देशी भाषा में इतना सुधार आवश्यक है कि वह पश्चिमी ज्ञान और संस्कृत के उतने अंश का भार वहन कर सके जितना एक अंग्रेजी शिक्षित औसत भारतीय में होने की हम अपेक्षा रखते हैं। हमारे विश्वविद्यालयों के स्नातकों के सिवा कौन यह अत्यावश्यक कार्य अच्छी तरह कर सकता है? और वे यह कार्य कैसे करेंगे यदि उचित रीति से विषय-वस्तु के अनुपात में भाषा में भी वे इसके लिए प्रशिक्षित न हों।’

अध्यक्षीय भाषण में शिक्षा के अन्य पक्षों की तथा संपन्न और प्राचीन भारतीय संस्कृति के निर्माण में संस्कृत की भूमिका पर भी उन्होंने चर्चा की। सम्पूर्ण दक्षिण भारत के अनेक शिक्षाविदों ने उस भाषण में राजराज वर्मा की क्षमता, स्पष्टवादिता, व्यापक दृष्टिकोण तथा भारतीय भाषाओं के हित साधन की पक्षधरता करने की विशिष्ट पद्धति की प्रशंसा की—उन्होंने भारतीय भाषाओं

के लिए बी० ए० आनर्स की कक्षा शुरू करने की माँग की। एक दूसरे संदर्भ में उन्होंने सुझाव दिया कि मद्रास विश्वविद्यालय की समस्याओं को कम करने के लिए तथा राज्य की आवश्यकताओं और आदर्शों को पूरा करने के लिए ट्रावनकोर में विश्वविद्यालय की स्थापना की जाए। छः वर्ष पहले ये सुझाव अवश्य ही एक असंभव स्वप्न प्रतीत हुए होंगे, परन्तु बाद की घटनाओं ने प्रमाणित किया कि ए० आर० कितने सही थे। १९३५ में त्रिवेन्द्रम में महाराजा महाविद्यालय में मलयालम की बी० ए० आनर्स की कक्षा शुरू की गई। १९३७ में ट्रावनकोर विश्वविद्यालय की स्थापना हुई जो आगे चलकर केरल विश्वविद्यालय बना।

शिक्षा-विषयक व्यस्तताएँ

संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं के विभागाध्यक्ष की सामान्य गतिविधियों के अतिरिक्त राजराज वर्मा को भाषा पाठ्यक्रम और सामान्य शिक्षा से संबंधित अन्य कई जिम्मेदारियाँ स्वीकार करनी पड़ी थीं। विश्वविद्यालय पाठ्यक्रम समिति और ट्रावनकोर राज्य की पाठ्य-पुस्तक समिति के सदस्य के रूप में भी उन्हें काफ़ी काम करना पड़ता था क्योंकि वह सर्वाधिक सक्रिय और उपयोगी सदस्य थे। वह 'भाषा परिष्करण समिति' के भी सदस्य थे, जिसमें राजकीय और गैर-राजकीय दोनों तरह के लोग थे। इसके अतिरिक्त वह सार्वजनिक व्याख्यान समिति के सचिव थे। यह समिति विशिष्ट विद्वानों के व्याख्यानों का आयोजन करती थी। कई समितियों में उन्हें अध्यक्ष के रूप में काम करना पड़ता था और वाद-विवाद का मार्गदर्शन करना पड़ता था।

इन व्यस्तताओं के बावजूद पुस्तकें लिखने के लिए उन्हें समय मिल जाता था। रचनात्मक रूप से इन दिनों वह बहुत अधिक सक्रिय रहे। अपने आठ वर्षों के पेशेवर कार्यकाल के दौरान, जबकि उन पर बहुत अधिक कार्यभार था, उन्होंने स्कूलों के लिए प्रारंभिक पुस्तकें तैयार करने के अलावा 'साहित्य सङ्घम्', 'मलयाल शाकुंतलम्' (शाकुंतलम् का सरल मलयालम में अनुवाद), 'लघुपाणिनीयम्-भाग २ लिखीं और 'मालविकाग्निमित्रम्', 'चारुदत्तम्', 'स्वप्नवासवदत्तम्' नाटकों के अनुवाद किए। उन्होंने अपनी महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'केरल पाणिनीयम्' (मलयालम व्याकरण) का पूरी तरह संशोधन किया और इसका नया संस्करण १९१७ में प्रकाशित हुआ। इन पुस्तकों का मूल्यांकन हम बाद में करेंगे।

आठ वर्षों के सीमित समय में वह इतना सब कैसे कर पाए, यह एक आश्चर्य का विषय है। उनका दैनिक कार्यक्रम क्या था ?

वह सुबह छः और साढ़े छः बजे के बीच उठते तथा आठ बजे एक कप कोका पीते। १० बजे स्नान। स्नान के बाद वह नियमित रूप से पूजा और प्रार्थना करते थे। कम अवसरों पर ही वह मन्दिर जाते। भोजन ११ बजे करते थे। इसके बाद

जमीन पर चटाई बिछा कर लेट जाते और बच्चों के साथ कुछ देर खेलते रहते। सोने की इच्छा होने पर अन्दर जाकर घंटे-डेढ़ घंटे के लिए आराम करते। इसके बाद उन्हें चबा-चबाकर कुछ खाने की इच्छा होती और वह फल तथा कोई विशेष पकवान खाते और फिर पढ़ने या लिखने के लिए अपनी मेज पर आ बैठते। साढ़े तीन बजे काफ़ी पीते और फिर कुछ देर तक चिठ्ठी-पत्री लिखते। पाँच बजे लान में टहलते या टेनिस खेलने क्लब चले जाते। धुंधलका होने पर लौटते और स्नान करते। इसके बाद पत्रिकाएँ या पुस्तकें पढ़ते। आठ साढ़े आठ के बीच वह रात्रिका भोजन लेते। इसके बाद घर के सदस्यों से घिरे वह आराम करते और १० बजे के बाद सोने जाते।

यह छुट्टी के दिनों का कार्यक्रम था। कार्य के दिन नौ बजे तक स्नान और भोजन कर लेते। दिन में हल्का भोजन महाविद्यालय में ही करते। चार बजे महाविद्यालय से सीधे यूनिशन क्लब चले जाते, ताश और टेनिस खेलकर धुंधलका होने के बाद घर लौट जाते।

पारिवारिक पक्ष

तम्पुरान का पारिवारिक जीवन आदर्शमय था। वह अपनी पत्नी तथा बच्चों की देखरेख बहुत सावधानी तथा ममता के साथ करते थे। उनका जीवन सहज और आनन्दमय बनाने के लिए वह तत्पर रहते थे। उनकी सात पुत्रियाँ और छः पुत्र थे जिनमें चार पुत्रियाँ और दो पुत्र अभी जीवित हैं। एक जीवित पुत्री केन्द्रीय मंत्री श्री जी० रवीन्द्र वर्मा की माता हैं। उनकी डायरी का एक उद्धरण (१९१८) प्रस्तुत है जिससे इस महान् विद्वान् के मानवीय दृष्टिकोण का पता चलता है: 'शाम को पत्नी और पुत्रियों के साथ वेधशाला चला जाता जिसके चवतरे से पश्चिम की तरफ समुद्र और पूर्व की तरफ पहाड़ियों का सुन्दर दृश्य दिखाई पड़ता था। हम उगते हुए चाँद, डूबते हुए सूर्य, बृहस्पति, शनि तथा कुछ जुड़वाँ तारों को देखा करते। इन दृश्यों को देखकर बच्चे चकित रह जाते।'

एक बार सबसे छोटी बेटि ने उस महाविद्यालय को देखने की इच्छा व्यक्त की जहाँ उसका बड़ा भाई पढ़ता था। अतः एक दिन प्रोफ़ेसर साहब उसे लेकर महाविद्यालय गए और एक कक्षा में पूरे पीरियड भर उसे बिठाए रहे। इससे पता चलता है कि इस प्रोफ़ेसर कवि के चरित्र में कितनी कोमलता थी। १९१५ में उनके मार्गदर्शक और आदरणीय चाचा चल बसे। यह उनके लिए बड़ा कष्ट-दायी हुआ।

परन्तु जीवन उसी भाँति चलता रहा। बहुत व्यस्त रहने के बावजूद वह अपने घरेलू कामकाज की उपेक्षा नहीं करते थे। १९१८ में उन्होंने अपने पुत्र राघव वर्मा का विवाह संपन्न किया।

उनकी मृत्यु बिल्कुल अचानक हुई। उन्हें ठंड लगी और वही मृत्यु का कारण बनी। उसके साथ अतिसार ने मिलकर हालत और नाजुक कर दी। तीन दिनों में ही तम्पुरान काफ़ी कमजोर हो गए। ताप १०३ तक बढ़ गया और सन्निपात हो गया। एक बार जब डॉक्टर आए तो वह बोल पड़े—'डॉक्टर साहब, मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। बुखार अब भी नहीं जा रहा है। आपका रोगी अधीर हो गया है।' परिहास उनकी प्रकृति का दूसरा पक्ष था। डॉक्टर के जाने के बाद उन्होंने अपनी पुत्री से कहा कि वह 'गीत गोविन्दम्' गाए। इसके बाद उन्होंने उस नए नाटक के कथानक का नोट लेने को कहा, जिसे लिखने की वह योजना बना रहे थे परंतु अन्त में पुत्री ने उन्हें आराम करने के लिए राजी कर लिया। बुखार कभी बढ़ता, कभी कम होता। बाद में टायफ़ायड के लक्षण प्रकट हुए। डॉक्टरों का प्रयास निरर्थक साबित हो रहा था। बीमार होने के दो सप्ताह बाद १८ जून, १९१८ को राजराज वर्मा चल बसे और अपने परिवार को ही नहीं, संपूर्ण केरल को अबाध पीड़ा में छोड़ गए।

अध्याय ५

भाषा और साहित्य संबंधी कृतियाँ

हमने राजराज वर्मा की बहुपक्षीय प्रतिभा तथा उनकी कुछ पुस्तकों का संयोगवश उल्लेख किया है। अब हमें उनकी साहित्यिक कृतियों की, जिनकी संख्या ४० के लगभग है, अधिक विस्तृत या वस्तुगत विवेचना करनी है। तीन प्रमुख शीर्षकों में उनकी कृतियों को विभाजित करने से यह विवेचना अच्छी तरह हो सकेगी जिनमें प्रथम है—भाषा और साहित्य संबंधी कृतियाँ। इस अध्याय का विषय भी यही है।

साहित्यिक भाषा के रूप में मलयालम का इतिहास लगभग आठ शताब्दी पुराना है और बोल-चाल की भाषा के रूप में इसका अस्तित्व और भी कई शताब्दियों पहले से रहा होगा। जो भी हो, व्यावहारिक रूप से १८वीं शताब्दी तक इस भाषा के व्याकरण ग्रंथ या शब्दकोश जैसे मौलिक उपादान उपलब्ध न होने से उसके व्यवस्थित अध्ययन की सुविधा नहीं हो सकी। १८वीं शताब्दी में भी इस क्षेत्र में जो प्रयास हुए वे अत्यंत अपर्याप्त थे। कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध करने के लिए हमें १९वीं शताब्दी के मध्य तक आना पड़ता है। यह सब कहते समय हम १४वीं शताब्दी में भी इस क्षेत्र में संस्कृत में लिखे 'मणि प्रवालम्' पर आधारित समीक्षा-ग्रंथ 'लीलातिलकम्' को नजरअंदाज नहीं कर रहे हैं। इस ग्रंथ में मलयालम व्याकरण और छंदशास्त्र के महत्त्वपूर्ण उल्लेख किए गए हैं।

इस प्रकार व्याकरण ग्रंथों और कोश रचना का इतिहास ढाई सौ वर्षों से कम की अवधि का है। मलयालम के वैज्ञानिक अध्ययन का सूतपात वस्तुतः अंग्रेज विद्वानों के भारत आने के बाद हुआ। कई लोगों को यह जानकर आश्चर्य हो सकता है कि मलयालम जैसी विकसित भाषा का अस्तित्व अंग्रेजों के आने तक अपने मौलिक उपादानों के बिना ही बना रहा।

परंतु यदि गंभीरता से इस प्रश्न पर विचार किया जाए तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है। किसी भाषा को प्रथम भाषा या मातृभाषा के रूप में सीखना द्वितीय भाषा के रूप में सीखने से भिन्न किस्म का है। एक बच्चा बिना किसी प्रयास के,

केवल अनुकरण और सुन करके ही अपनी प्रथम भाषा सीख लेता है। उसे बिना किसी जिज्ञासा के स्वभावतः ही ध्वनि समूहों, सामान्य बोल-चाल तथा वाक्य रचना की जानकारी हो जाती है। वयस्क व्यक्ति सचेत प्रयास करके भाषा सीखता है और उसे ग्रहण करने में वह अधिक तार्किक, आलोचनात्मक और चुनाव का रख अपनाता है। इसी कारण वह व्याकरण पर अध्ययन का स्वागत करता है, जो भाषा के ढांचे को तेजी से समझने में उसकी सहायता करता है। जब यूरोपीय लोग व्यापार या मिशनरी कार्यों के लिए केरल आए तो उन्हें संप्रेषण अर्थात् एक नई भाषा सीखने की समस्या का सामना करना पड़ा। अतः अपने तथा अपने उत्तराधिकारियों के उपयोग के लिए मलयालम व्याकरण के आवश्यक तत्त्वों की जानकारी रखना और मलयालम के आधारभूत लैटिन, पुर्तगाली और अंग्रेजी के समानार्थक शब्दों की सूची का संग्रह करना उनके लिए बिल्कुल स्वाभाविक था। इन प्राथमिक प्रयासों को परवर्ती छात्रों ने समयानुसार संशोधित किया। इनमें कुछ छात्रों में वैयाकरणिक ढांचे को समझने तथा नई भाषाओं को सीखने का चाव था।

राजराज वर्मा मलयालम में अब तक सामने आए वैयाकरणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण थे और उनकी कृति 'केरल पाणिनीयम्' को सर्वत्र अभूतपूर्व कृति माना जाता है। इस क्षेत्र विशेष में उनके योगदान के उचित मूल्यांकन के लिए हमें उन व्याकरण कृतियों के बारे में जानना चाहिए जिनका प्रकाशन 'केरल पाणिनीयम्' से पहले हो चुका था।

यूरोपीय विद्वानों की कृतियाँ

१. राबर्ट ड्रमंड ग्रामर आफ मालाबार लैंग्वेज (१७९९)
२. एफ० स्त्रिंग आउटलाइन्स आफ ए ग्रामर आफ दि मलयालम लैंग्वेज (१८३९)
३. जोसेफ पीट ए ग्रामर आफ दि मलयालम लैंग्वेज (१८५४)
४. गुंडर्ट (और गार्थवेइट) कैटेचिज्म आफ मलयालम ग्रामर (१८६०)
५. गुंडर्ट मलयालम भाषा व्याकरण (१८६८)
६. एल० जे० फ्रॉनमेयर ए प्रोग्रेसिव ग्रामर आफ मलयालम फ्रार यूरोपियन्स (१८८९)

केरल के विद्वानों की कृतियाँ

१. अनाम लीलातिलकम् (१४वीं शताब्दी)
२. जॉर्ज मात्तन मलयालमयुटे व्याकरणम् (१८६३)
३. पाचू मूननु केरल भाषा व्याकरणम् (१८७६)
४. कोवुन्नी नेडुडु झाडि केरलकौमुदी (१८७८)

उपर्युक्त १० ग्रंथों में सर्वाधिक पांडित्यपूर्ण दो हैं : डा० गुंडर्ट की 'मलयाल भाषा व्याकरणम्' (१८६८) और जॉर्ज मात्तन की 'मलयालमयुटे व्याकरणम्' (१८६३?)। प्रथम वर्ग में डॉ० गुंडर्ट के सिवा सभी कृतियाँ अंग्रेजों के उपयोग के लिए हैं। ये प्रारम्भिक पुस्तकें हैं और इनका उद्देश्य विदेशियों को भाषा की गहनता में ले जाना है। अंग्रेज विद्वान् भाषा के गठन का अध्ययन करने की अंग्रेजी तकनीक से परिचित थे। और जब उन्होंने एक ऐसी भाषा हाथ में ली जो एकदम भिन्न भाषा परिवार की थी तो इस अंग्रेजी तकनीक के ज्ञान ने उन्हें प्रभावित किया। उसी तरह स्थानीय विद्वान् संस्कृत की महत्त्वपूर्ण व्याकरण पुस्तकों से परिचित थे। अतः जब उन्होंने यह कार्य हाथ में लिया तो उन पर संस्कृत वैयाकरणों के दृष्टिकोण और शब्दावली का प्रभाव पड़ा। इस संदर्भ में हमें बिशप राबर्ट काल्डवेल की प्रशंसित कृति 'ए कम्पेरेटिव ग्रामर आफ द्रविडियन आर साउथ इंडियन फैमिली आफ लैंग्वेज' (१८५६) का उल्लेख आवश्यक है। काल्डवेल ने ही इस बात के निश्चित प्रमाण दिए कि दक्षिण भारतीय भाषाएँ एक अलग परिवार की हैं और उनका संस्कृत या भारोपीय परिवार की किसी अन्य भाषा के साथ कोई वंशानुगत संबंध नहीं है। अतः यूरोप में विकसित तकनीक का इस्तेमाल करते हुए भी उसने भारोपीय भाषा ढांचे की परिपाटी से प्रभावित हुए बिना ढांचे के विषय का अध्ययन किया।

केरल पाणिनीयम्

काल्डवेल की महत्त्वपूर्ण कृति के प्रकाशित होने के बाद लिखी गई तमिल, तेलुगु, मलयालम, कन्नड़ आदि के व्याकरण से संबंधित महत्त्वपूर्ण पुस्तकों को एक विशेष लाभ हुआ था, हालांकि स्थानीय विद्वानों द्वारा उस महान् ग्रंथ का महत्त्व समझने में कुछ समय लगा। मलयालम व्याकरण के संदर्भ में डॉ० गुंडर्ट और डॉ० काल्डवेल ने साथ-साथ कार्य किया—हालांकि कुछ भाषा वैज्ञानिक मुद्दों को लेकर उनमें असहमति थी। राजराज वर्मा ने इन विद्वानों की मान्यताओं का तथा साथ ही जॉर्ज मात्तन के योगदान का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया। परंतु संस्कृत परंपरा में पोषित होने के कारण उनकी पहली कोशिश संस्कृत पद्धति से मलयालम का व्याकरण तैयार करने की थी। यह कृति उन्होंने अपने शैक्षिक जीवन के आरंभ में ही पूरी की और इसका नाम 'केरल पाणिनीयम्' (१८६६) रखा। उन्होंने यह नाम क्यों रखा? जैसा कि सुविदित है, पाणिनि संस्कृत के सर्वाधिक मान्यताप्राप्त वैयाकरण हैं। वह इतने ख्यातिलब्ध हैं कि 'पाणिनि' या 'पाणिनीयम्' शब्द का ही अर्थ भारतीय परंपरा में 'व्याकरण' हो गया है। अतः 'केरल पाणिनीयम्' का अर्थ है पाणिनी की परंपरा में लिखा गया केरल भाषा का व्याकरण। पाणिनि की परंपरा की एक मुख्य चीज 'सूत्र वृत्ति' शैली

है। ये सूत्र संक्षिप्त और स्मृति के लिए सुविधाजनक फार्मूले हैं। परन्तु जब तक प्रत्येक सूत्र के लिए वृत्ति या टिप्पणी नहीं दी जाए तब तक सूत्र का विशेष अर्थ ज्ञात नहीं होता। लगभग दो दशक तक इस व्याकरण का उपयोग होता रहा, परन्तु लेखक ने महसूस किया कि मलयालम में विशेषज्ञता हासिल करने वाले आधुनिक छात्रों के लिए भिन्न प्रकार का व्याकरण होना चाहिए। यह विचार तब आया जब वह बी० ए० में वैकल्पिक मलयालम की कक्षा में पढ़ा रहे थे। उस समय कक्षा में व्याख्यान के लिए उन्होंने मलयालम व्याकरण की जो टिप्पणियाँ तैयार की थीं उसे संशोधित व्याकरण के रूप में ढाला और वह १९१७ में प्रकाशित हुआ। राजराज वर्मा इस संशोधित पुस्तक का नाम वही पुराना 'केरल पाणिनीयम्' नहीं रखना चाहते थे क्योंकि इसका लगभग पुनर्लेखन कर दिया गया था परन्तु उनके मित्रों ने सोचा कि उस शीर्षक की ख्याति लुप्त न हो, इसलिए वही शीर्षक रहने दिया गया। पिछले ६० वर्षों से यह कृति आधिकारिक मानी जाती है और भविष्य में भी इससे बेहतर पुस्तक सामने आने की संभावना कम ही है। इस ग्रंथ की लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि लेखक को 'केरल पाणिनी' कहकर संशोधित किया जाता था। उनके एक शिष्य पी० अनन्तन पिल्लै द्वारा लिखित राजराज वर्मा की संक्षिप्त जीवनी का भी यही शीर्षक है।

राजराज वर्मा संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। उन्हें तमिल का अच्छा ज्ञान था और वह कामचलाऊ कन्नड़ तथा तेलुगु भी जानते थे। आधिकारिक व्याकरणों से उन्होंने सहायता ली थी और काल्डवेल तथा गूंडर्ट की कृतियों का तो उन्होंने बिना किसी हिचक के उल्लेख किया है। उनके हृदय में अन्य सभी विद्वानों में काल्डवेल के लिए सर्वाधिक सम्मान था। उनकी कृतियों में कई स्थलों पर ऐसा है मानों काल्डवेल से असहमति प्रकट करने में उन्हें संकोच हो रहा हो। परन्तु जहाँ भी उन्हें विश्वास हो जाता था कि काल्डवेल ने गलती की है तो वह उस अंग्रेज विद्वान् का विरोध करते ही थे। यदि 'केरल पाणिनीयम्' शीर्षक प्रारंभिक ग्रंथ के लिए उपयुक्त है तो उसके नए संस्करण का नाम 'केरल काल्डवेलियम्' रखा जाना चाहिए क्योंकि पुस्तक के कई भाग में वह काल्डवेल से बहुत अधिक प्रभावित लगते हैं। परन्तु यदि वस्तुगत ढंग से कहा जाए तो ये दोनों शीर्षक ही अनुपयुक्त हैं। क्योंकि वह न तो पाणिनी और न ही काल्डवेल के अंधानुकर्ता थे। उन्होंने पारंपरिक और आधुनिक दोनों पद्धतियों को इतनी सुन्दरता से मिलाया है कि यह पुस्तक केरल के व्याकरण साहित्य में युगप्रवर्तक बन गई है।

राजराज वर्मा ने नए संस्करण में से प्रारंभिक संस्करण के सूत्रों को बिल्कुल निकाल दिया है और उनके स्थान पर कविताएँ रखी हैं जिनके लिए विस्तृत व्याख्या की आवश्यकता नहीं है। जहाँ आवश्यकता है, वहाँ उन्होंने स्वयं व्याख्या

कर दी है। उन्होंने प्रचुरमात्रा में उपयुक्त संस्कृत के पारिभाषिक शब्दों का यथास्थान उपयोग किया है, परन्तु उन्होंने केवल संस्कृत पदों का उपयोग किया है; नेडुडुवाडि की तरह संस्कृत व्याकरण का नहीं। अधिक उपयुक्तता के विचार से उन्होंने तमिल से भी कुछ शब्दों को लिया है। जो भी हो, देशज उपादानों का इस्तेमाल करने का उनका ढंग और दृष्टि स्पष्टतया पाश्चात्य ढंग की प्रतीत होती है—हालांकि गूंडर्ट या जॉर्ज मात्तन की तरह उन्होंने मलयालम व्याकरण को पश्चिमी रंग में नहीं ढाला है।

इस पुस्तक में कमियाँ भी हैं। कुछ अंतर्विरोध और भूलें हैं। संशोधित संस्करण के प्रकाशन के बाद वह मुश्किल से एक वर्ष जीवित रहे। यदि वह और अधिक जीवित रहते तो इसमें विशेष सुधार कर पाते। 'केरल पाणिनीयम्' में विश्लेषणात्मक पद्धति नहीं अपनाई गई है; गूंडर्ट की तरह इसमें प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण अधिक नहीं हैं। मात्तन की तरह लेखक ने बोल-चाल की भाषा के रूपों पर अपेक्षित ध्यान नहीं दिया है। 'पीठिका' शीर्षक की लंबी भूमिका एक अतिरिक्त परिवर्धन है, जिसमें तमिल और मलयालम के भाषावैज्ञानिक लक्षणों की तुलना की गई है। यहाँ लेखक ने स्वतंत्र भाषा के रूप में मलयालम के विकास और तमिल के साथ इसके संबंध का विवेचन किया है।

राजराज वर्मा के तत्कालीन छात्र और सहयोगी श्री पी० के० नारायण पिल्लै (जो बाद में ट्रावनकोर में उच्च न्यायालय के जज बने) द्वारा लिखी गई नए संस्करण की उच्चस्तरीय भूमिका में इस महान् कृति का उत्कृष्ट मूल्यांकन हमें प्राप्त होता है। अक्षरारंभ से लेकर संधिविच्छेद तक व्याकरण का ऐसा कोई पक्ष नहीं है जहाँ उनकी सामान्यीकरण और सूक्ष्म पर्यवेक्षण की असाधारण क्षमता दिखाई न पड़ती हो। उन्होंने कई नई बातें कही हैं और पुरानी बातों को नए ढंग से रखा... पांच वर्गों में विभाजन उनकी मौलिक अवधारणा है और यह सीधे-सीधे संस्कृत का अनुकरण करने वाले पूर्ववर्ती व्याकरणों के त्रिवर्गीय विभाजन से बिल्कुल अलग है...। पाणिनि ऐतिहासिक की अपेक्षा ताकिक अधिक हैं। चूंकि वह एक मृत भाषा पर काम कर रहे थे अतः इसका कोई विशेष महत्त्व संभवतः नहीं है। परन्तु क्या इस तरह का अध्ययन मलयालम-जैसी भाषा के लिए उपयुक्त है जो सदैव विस्तृत तथा विकसित होती रही है और जिसका अतीत इतना बहुरंगी रहा है? इसीलिए नए संस्करण के मूल आधार पुनर्नियोजित हैं; ऐतिहासिक पक्ष ताकिक पक्ष से आगे बढ़ गया है हालांकि तर्कपद्धति का त्याग नहीं किया गया है...। हम अपनी भाषा के अध्ययन में इस मूल्यवान् परिवर्तन पर गर्व कर सकते हैं। हमें लेखक को साधुवाद देना चाहिए कि उसने इस विशिष्ट प्रकाशन के द्वारा मलयालमभाषी जनता को बहुत अधिक ऋणी बनाया है।

प्रारंभिक संस्करण की भूमिका लेखक के चाचा केरल वर्मा ने लिखी थी।

दोनों संस्करण उन्हीं को समर्पित हैं। कुछ अभाव और भूलों के बावजूद 'केरल पाणिनीयम्' मलयालम व्याकरण के सभी ग्रन्थों से श्रेष्ठ है और छः दशक के बाद भी आज सर्वोच्च शिखर पर मौजूद है।

अन्य व्याकरण ग्रंथ

हम देखते हैं कि 'केरल पाणिनीयम्' के दो संस्करणों के बीच २१ वर्षों का अन्तराल है, इस पूरी अवधि में मलयालम व्याकरण की समस्या राजराज वर्मा के मस्तिष्क पर छाई रही। 'केरल पाणिनीयम्' निःसन्देह एक विद्वत्तापूर्ण पुस्तक है, परन्तु स्कूल के विद्यार्थियों के दृष्टिकोण से और भी सरल पुस्तकें आवश्यक थीं, इसलिए तम्पुरान ने इस अभाव को पूरा करने का निश्चय किया।

शब्दशोधनी

१९०२ में प्रकाशित 'शब्दशोधनी' तीन महीने के अथक प्रयास का परिणाम है। लेखक का उद्देश्य हाई स्कूल के उन छात्रों के लिए एक सरल व्याकरण प्रस्तुत करना था जिनके लिए 'केरल पाणिनीयम्' की समझना टेढ़ी खीर थी। अधिकाधिक सरल तथा सुपरिचित उदाहरणों के कारण यह पुस्तक लोकप्रिय हो गई। इसमें १७५ अनुभाग हैं जो ध्वनिविज्ञान, पद विज्ञान, शब्द व्युत्पत्ति विज्ञान, वाक्य विज्ञान में विभाजित हैं। लेखक का स्वयं कहना है कि यह पुस्तक 'केरल पाणिनीयम्' का सार है और इसमें संशोधन तथा उपयोगी परिवर्तन किए गए हैं।

प्रथम व्याकरणम्

'शब्द शोधनी' के प्रकाशन के बाद भी राजराज वर्मा ने निचली कक्षाओं के लिए व्याकरण की आवश्यकता महसूस की। जन शिक्षा निदेशक ने भी उन्हें इसी ढंग का परामर्श दिया। अतः उन्होंने दो व्याकरण तैयार किए जिनमें एक है 'प्रथम व्याकरणम्' (१९०६)। जैसा कि शीर्षक से संकेत मिलता है यह व्याकरण प्राथमिक स्तर की शिक्षा के लिए है।

मध्यम व्याकरणम्

इसी पद्धति से उन्होंने दूसरी पुस्तक 'मध्यम व्याकरणम्' की रचना १९०७ में माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के लिए की। इन दो पुस्तकों में मलयालम व्याकरण के मौलिक तत्त्वों को बहुत स्पष्टता के साथ विवेचित किया गया है। शिक्षक और छात्र दोनों के लिए ये पुस्तकें काफ़ी उपयोगी और सहजग्राह्य हैं। इनकी लोकप्रियता का पता इस बात से चलता है कि एक महीने में ही दूसरा

संस्करण और अगले वर्ष तक तीसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा।

डॉ० गुंडर्ट का व्याकरण हालांकि पांडित्यपूर्ण है; परन्तु उसमें कुछ कमियाँ हैं, जैसे कि विषय वस्तु के निर्वाह में व्यवस्था का अभाव और अनुपयुक्त तकनीकी शब्दों का प्रयोग। प्रारंभिक 'केरल पाणिनीयम्' में भी प्राचीन पद्धति की कुछ कमियाँ मौजूद थीं। 'शब्दशोधनी' में काफ़ी दूर तक अंग्रेजी पद्धति अपनाई गई है। 'मध्यम व्याकरणम्' विश्लेषणात्मक पद्धति में लिखी गई है। 'केरल पाणिनीयम्' मलयालम भाषियों को विशेष सरल और सुबोध तरीके से मलयालम व्याकरण की जानकारी देने में सक्षम है।

मणिदीपिका

'चम्पू', 'अत्तकथा' आदि मलयालम साहित्य की कतिपय शाखाओं की रचनाओं को समझने तथा उनके मूल्यों के लिए संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान होना आवश्यक है। अतः मलयालम के विद्वान् को संस्कृत व्याकरण की अच्छी समझ होनी चाहिए; परन्तु सभी विद्वानों के लिए पाणिनी का सम्यक् अध्ययन कठिन था। अतः मलयालम में लिखित संस्कृत के सरल व्याकरण से इस समस्या का समाधान हो जाता है। राजराज वर्मा ने प्रारंभ में ही ऐसा महसूस किया था और इस तरह की पुस्तक लिखने के लिए उत्सुक थे। १९०८ में वह अपनी इच्छा पूरी कर सके। उन्होंने तीन महीने तक अविराम कार्य किया और 'मणिदीपिका' प्रस्तुत की—'मणि' का तात्पर्य है—संस्कृत, जैसे कि 'मणिप्रवालम्' में। वैयाकरण नुरवूर नारायण शास्त्रिकल ने पांडुलिपि देखी थी और केरल वर्मा ने, जिन्हें यह पुस्तक समर्पित है, उसका अनुमोदन किया था। तब से मलयालम के छात्र इस कृति की सहायता से ही संस्कृत व्याकरण की गुत्थियों को मुलझाते रहे हैं।

लघु पाणिनीयम्

'मणिदीपिका' का लेखन पूरा करने के चार-पाँच माह बाद ए० आर० ने पाणिनी का अनुगमन करते हुए संस्कृत में सरल व्याकरण लिखने की योजना बनाई। उनकी डायरी से पता चलता है कि इस कार्य को हाथ में लेने के लिए उन्हें केरल वर्मा से निरन्तर सुझाव और उत्साह प्राप्त होता रहा था। पाँच माह (१९१०) में उन्होंने उसका लेखन पूरा कर लिया। संस्कृत में लिखे प्राक्कथन और अंग्रेजी में लिखी भूमिका से लेखक के उद्देश्य का पता चलता है। भूमिका से एक उद्धरण नीचे दिया जा रहा है :

'यह सच है कि पाणिनि प्राचीन काल की तरह आज भी एक वैयाकरण के रूप में अद्वितीय हैं। अपने सूत्रों की पूर्णता तथा विस्तार के कारण ही बंसे व्यक्ति के लिए उन्हें समझना आसान न था; जिसके पास उनके आठ अध्यायों (अष्टाध्यायी)

के श्रमसाध्य अध्ययन के लिए अपेक्षित समय और संयम से परिपूर्ण मनोयोग का अभाव था। यह भी सच है कि 'कारिका' के लेखक वार्तिककार पतंजलि जैसे महान् व्याख्याताओं ने पाणिनि के निहितार्थ को शब्दों के कुहासे में ढक कर अध्ययन की इस कठिनाई को और अधिक बढ़ाया है। फिर भी, मुझे हमेशा से ऐसा प्रतीत होता रहा है कि पाणिनि के अतुलनीय सूत्रों के आधार पर उन्हें सरलीकृत करते हुए तथा व्याख्यायित करते हुए स्वयं संस्कृत में एक ऐसी प्राथमिक व्याकरण की रचना करना संभव हो जो पाणिनि तथा सामान्यतः शास्त्रीय साहित्य को समझने के लिए परिचयात्मक पुस्तक का काम कर सके, तो ऐसा प्रयास करणीय होगा।'

अनुभव से स्पष्ट होता है कि प्रयास पूर्णतः सार्थक हुआ। संपूर्ण भारतवर्ष तथा विदेशों में भी इस विषय के छात्रों और विद्वानों की यही मान्यता है। बोन (जर्मनी) विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर जैकोबी ने लेखक को कभी पत्र लिखा था :

'मैं विश्वस्त हूँ कि आपका प्रयास विशिष्ट है और मैंने निश्चय किया है कि अगली गर्मियों में छात्रों को पाणिनि पढ़ाते समय मैं 'सिद्धान्त कौमुदी' के बदले इसका ही उपयोग करूँगा।'

बंबई के विल्सन कालेज के प्रोफ़ेसर एम० एम० भद्रकामर ने लिखा :

'यह कृति विशिष्ट रूप से नियोजित है। इसमें छात्रों को अत्यन्त सरल तरीके से न केवल संस्कृत व्याकरण का ज्ञान कराया गया है बल्कि स्वयं पाणिनि की भाषा और चिन्तन से परिचित कराने का उद्देश्य निहित है।'

पूना में डेकन कालेज के प्रोफ़ेसर आर० सी० रानाडे की निम्नलिखित मान्यता है :

'इस पुस्तक को पढ़ते समय मैं उस नए सांचे को देखकर चकित रह गया जिसमें ढालकर पाणिनि के सूत्रों को नए सिरे से देखा-परखा गया है।... पुस्तक में आपने जो प्रांजल भूमिका लिखी है उससे साफ़ पता चलता है कि आप-जैसे विद्वान् के हाथ में आकर संस्कृत भाषा के लिए 'मृत' भाषा का कलंक डोना अनावश्यक हो गया है। सचमुच ऐसा महसूस होता है कि इसमें पुनः एक बार जीवन की संपूर्ण ताजगी वापिस आ गई है।'

अष्टाध्यायी के २९७८ सूत्रों को कम करके उन्होंने उनकी संख्या १९५९ कर दी। लेखक ने 'लघु-पाणिनीयम्' का दूसरा भाग भी प्रकाशित किया (१९१२) जिसमें 'वैदिक कांडम्', 'स्वर कांडम्' सम्मिलित हैं और साथ ही इसमें पौर्वात्य तथा पाश्चात्य विद्वानों का भाषा के प्रश्न पर विचार-विमर्श सम्मिलित है।

साहित्य का विज्ञान

भाषा के अध्ययन में व्याकरण और कोश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। अब तक हम व्याकरण के क्षेत्र में राजराज वर्मा के योगदान का विवेचन कर रहे थे। बैली और गुंडर्ट से बेहतर कोश तैयार करने की उनकी बड़ी इच्छा थी; परन्तु व्यस्तता के कारण उन्हें पर्याप्त समय नहीं मिला। उनकी दृष्टि में कुछ ऐसी मौलिक पुस्तकें लिखना ज्यादा जरूरी था जिनसे साहित्य के छात्रों तथा वृत्तिकों को लेखन कला में सहायता मिल सके। काव्यरचना के संदर्भ में काव्य और छंदशास्त्र मुख्य शाखाएँ हैं। इस क्षेत्र में पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने पर्याप्त योगदान दिया है। राजराज वर्मा दोनों तरह के शास्त्रों से परिचित थे और इनके सर्वोत्तम अंशों को आत्मसात् करना चाहते थे। उन्होंने यह भी महसूस किया कि रूप और उपादान के प्रति मलयालम में पद्य और गद्य के लिए समरूप दृष्टिकोण आवश्यक नहीं है। मलयालम में पद्य की परंपरा गद्य से अधिक प्राचीन रही है और जहाँ तक काव्य-रचना का संदर्भ है, मलयालम का संस्कृत-काव्य और छंदशास्त्र पर आश्रित होना उचित ही है। ऐसा विषयवस्तु के प्रति किसी पूर्वाग्रह के बिना ही था, और विषयवस्तु के लिए किसी प्रकार की सीमा-रेखा खींची भी नहीं जानी चाहिए। जो भी हो, मलयालम गद्य का रूप और वस्तु का अंग्रेजी की ओर झुकना ज्यादा लाभकारी था। ए० आर० की तीन पुस्तकों—'भाषा भूषणम्', 'वृत्त मंजरी' और 'साहित्य सहायम्' में उनका रुख साफ़ झलकता है।

भाषा-भूषणम्

१९०२ में प्रकाशित 'भाषा भूषणम्' कविता की प्रकृति और व्यवहार के संदर्भ में एक गुटका है। भाषा भूषणम् का अर्थ है अलंकार या सजावट। संस्कृत में इसे 'अलंकार शास्त्र' कहा जाता है। 'भाषा भूषणम्' की भूमिका में लेखक ने इस पुस्तक की रचना का संक्षिप्त विवरण दिया है। कुछ प्रासंगिक उद्धरण (मलयालम में अनूदित) नीचे दिये जा रहे हैं :

'त्रिवेन्द्रम् महाविद्यालय में जब मेरे ऊपर भारतीय भाषाओं के अध्यापन का भार सौंपा गया तो मैंने अलंकारशास्त्र की पुस्तकों का अभाव महसूस किया। मद्रास विश्वविद्यालय के प्रश्नपत्र विद्यार्थियों से उच्चस्तरीय ज्ञान की अपेक्षा रखते थे—अतः यह महसूस किया गया कि बी० ए० कक्षा के विद्यार्थियों को काव्यशास्त्र का प्रारंभिक ज्ञान होना चाहिए। चूकि मलयालम में सहायक पुस्तकों का अभाव था अतः मैंने संस्कृत पुस्तकों की सहायता से विषय का अध्यापन शुरू कर दिया। परन्तु यह शीघ्र ही अपर्याप्त प्रतीत हुआ... अतः दो

वर्षों तक (१९००-१९०१) मैंने बी० ए० कक्षा के लिए संस्कृत के स्तरीय ग्रंथों के आधार पर प्रचुर टिप्पणियाँ तैयार कीं और चुने हुए अंशों का अनुवाद किया। बाद में साहित्य प्रेमी छात्रों और मित्रों की माँग पर इन्हीं टिप्पणियों को संशोधित करके पुस्तक रूप में प्रकाशित किया।

लेखक ने यह भी स्पष्ट किया है कि उसने इस विषय पर संस्कृत में उपलब्ध सभी महत्वपूर्ण ग्रंथों से सहायता ली है—किसी एक ग्रन्थ से नहीं। उदाहरणों के लिए उन्होंने प्रसिद्ध शास्त्रीय ग्रन्थों को प्राथमिकता दी और जब यह प्रयास सफल होता प्रतीत नहीं हुआ तब उन्हें आधुनिक काव्य की सहायता लेनी पड़ी। कई बार उन्हें स्वयं ही कविताओं की रचना करनी पड़ी, जिसका विशेषरूप से निर्देश किया गया।

ए० आर० ने स्वीकार किया है कि वह पुस्तक को सर्वांगीण रूप नहीं दे सके। पुस्तक में निम्नलिखित छः प्रकरणों का अध्ययन किया गया है :

- अलंकार
- दोष
- गुण
- शब्दार्थ
- ध्वनि
- गुणीभूत व्यंग्य

अलंकारों को चार वर्गों—अर्थात् अतिशयम्, साम्यम्, श्लेषम् और वास्तवम्—में विभाजित करने में उन्होंने छद्म की पद्धति का अनुगमन किया है।

लेखक को आशा थी कि दूसरे संस्करण में वह इस पुस्तक को और अधिक विस्तार दे सकेगा, परन्तु १९०१ में दूसरा संस्करण प्रकाशित होने पर वह ऐसा नहीं कर पाए क्योंकि वह अत्यधिक व्यस्त थे। परवर्ती विद्वानों, खासकर कुट्टिकृष्ण मारार ने, जिनका 'साहित्यभूषण' इसी विषय से संबंधित है, 'भाषाभूषणम्' की आलोचना की और उस पर टिप्पणियाँ कीं। परन्तु १९६८ में इस पुस्तक के 'एन० बी० एस०' (नेशनल बुक स्टाल) संस्करण के संपादकीय प्रस्तावना में भी मारार ने स्वयं तम्पुरान की महान् उपलब्धियों की सराहना की।

वृत्तमंजरी

'वृत्तमंजरी' (१९०५), जैसा कि शीर्षक से जाहिर है, छंदशास्त्र (वृत्त-छंद) से संबंधित पुस्तक है। इसकी रचना भी विश्वविद्यालय के छात्रों तथा उन लोगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए हुई थी, जो साहित्यिक तकनीक और कौशल का विशेष अध्ययन कर रहे थे। जैसा कि सुविदित है, मलयालम के कवि संस्कृत तथा साथ ही देशज छंदों का निर्बाध प्रयोग करते रहे हैं। संस्कृत छंदों के संदर्भ

में विभिन्न तरह की परिभाषाओं और उदाहरणों की कमी नहीं थी। 'वृत्तरत्नावली' को बड़े पैमाने पर दो श्रेणियों के लिए आधार बनाया गया है— एक छंदों पर आधारित है और दूसरा मात्राओं पर। लेखक द्वारा दी गई परिभाषाएँ और उदाहरण अत्युत्तम हैं। कई स्थलों पर उन्होंने प्रसिद्ध मलयालम काव्यों के उदाहरण दिए हैं।

देशज छंदों के संदर्भ में भाषा में किसी प्रकार की परिभाषा उपलब्ध नहीं थी। अतः संगीतपरक विचारशैली से युक्त लोकप्रिय मलयालम छंदों के परिभाषक तैयार करने के लिए राजराज वर्मा को पर्याप्त मौलिक अनुसंधान करना पड़ा था। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह एक अत्यन्त दुष्कर और कठिनाइयों से भरा क्षेत्र था और उन्होंने एक मार्गदर्शक की तरह नई जमीन तोड़ी और काफ़ी प्रगति की। परन्तु यह स्वीकार करना पड़ता है कि अध्ययन के इस कठिन और ऊबाऊ क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना शेष है। कतिपय परवर्ती विद्वानों जैसे अप्पन तम्पुरान, कुट्टिकृष्ण मारार और के० के० वाध्यार ने जो प्रयास किये उनमें आंशिक सफलता पाने का ही दावा कर सके हैं। मलयालम छंदशास्त्र के क्षेत्र में 'वृत्तमंजरी' अब भी एक युगान्तरकारी कृति है।

साहित्य सङ्ग्रहम्

गद्य लेखन में शिल्प-कौशल के लिए १९११ में प्रकाशित 'साहित्य सङ्ग्रहम्' पथप्रदर्शक है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, मलयालम साहित्य में गद्य का विकास काव्य के बाद और विशेषकर पश्चिमी साहित्य के संपर्क में आने के बाद संभव हुआ। हालांकि कुछ विद्वान् ऐसा सोचते थे कि प्रतिष्ठा और उत्कर्ष के लिए गद्य को भी मलयालम संस्कृत पर आश्रित होना चाहिए, परन्तु राजराज वर्मा के विचार इसके प्रतिकूल थे। उनकी मान्यता थी कि भाषा के लिए यह बेहतर है कि यह रूप और वस्तु दोनों में संस्कृत के आश्रय से मुक्त रहे ताकि यह अंग्रेजी तथा अन्य भाषाओं के विविध पक्षों को सीखकर लाभान्वित हो सके। वह चाहते थे कि भाषा के मुहावरों की शुद्धता बनी रहे और उसे बाह्य निमित्तों से प्रभावित न होना पड़े। इसी भावना से उन्होंने बड़े उत्साह के साथ 'साहित्य सङ्ग्रहम्' की रचना की। इसके संकलन और लेखन कार्य में केवल पाँच महीने लगे। परन्तु पांडुलिपि तैयार करते समय उन्होंने अपने निर्देशक केरल वर्मा तथा अन्य साधियों से परामर्श किया था। पांडुलिपि कोचीन के महान् विद्वान् अप्पन तम्पुरान को पेश की गई और उन्होंने इसकी मूल्यवान् भूमिका लिखी।

जैसा कि सभी जानते हैं, संस्कृत में काव्य प्रधान है और गद्य का स्थान गौण है। १९वीं शताब्दी के मध्य तक आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ भी यही हाल

रहा। तब हवा के रुख में एक परिवर्तन दिखाई पड़ा। राजराज वर्मा जैसे महान् व्यक्तियों ने रचना और संप्रेषण दोनों अर्थों में क्षेत्रीय भाषाओं में गद्य के सुंदर भविष्य की झलक देखी परन्तु उनके समय तक गद्य रचना बिना किसी उचित दिशा के विकसित हो रही थी। ऐसी रचना बनावटी, बड़बोली, असंगत और आडंबरयुक्त होती थी। इस स्थिति में उन्होंने विकासमान लेखकों को कुछ निर्देश देना आवश्यक समझा। अच्छे गद्य क्या हैं, गद्य रचना में प्रायः क्या समस्याएँ सामने आती हैं, रचनात्मक और आलोचनात्मक स्तर पर गद्य की कितनी श्रेणियाँ हैं आदि प्रश्नों के उत्तर 'साहित्य सङ्घम्' में व्यवस्थित रूप से मिल सकते हैं।

सुप्रसिद्ध आलोचक कुट्टिप्पुवा कृष्ण पिल्लै जिन्होंने 'साहित्य सङ्घम्' के 'एन० बी० एस०' संस्करण की आधुनिक भूमिका लिखी है, कहते हैं कि यह पुस्तक केवल मलयालम भाषा के छात्रों के लिए ही नहीं वरन् उन गद्य लेखकों तथा परिपक्व लेखकों के लिए भी मूल्यवान है जो अपने लेखन को रोचक और प्रभावी बनाना चाहते हैं। सुग्राह्य गद्यलेखन काव्य-रचना से कहीं अधिक कठिन है। अच्छे गद्य को सीधा, संक्षिप्त, सुन्दर और विशिष्ट होना चाहिए। छदोबद्धता से हीन शब्दों का संग्रह-मात्र अच्छा गद्य नहीं है।

पुस्तक के प्रथम भाग में ए० आर० ने गद्य को चार भागों में विभाजित किया है—आख्यानम् (विवेचनात्मक), वर्णनम् (वर्णनात्मक), विवरणम् (व्याख्यात्मक) और उपपादनम् (तार्किक)। संक्षेप में हर भाग के विशेष लक्षणों का उपयुक्त उदाहरणों के साथ विवेचन किया गया है। पुस्तक के दूसरे भाग में अभिव्यक्ति की शुद्धता, भाषा के मुहावरों, प्रयोग और विराम चिह्नों की उपयुक्तता का अध्ययन किया गया है। अन्त में दो गई समानार्थ शब्दों की सूची पुस्तक का महत्त्व और बड़ा देती है। अंग्रेजी भाषा के लिए फाउलर ने जो कार्य किया है वही कार्य ए० आर० ने मलयालम के लिए इस गुटके के द्वारा किया है।

अध्याय ६

अनुवाद

राजराज वर्मा केवल ५६ वर्षों तक जीवित रहे। उनके जीवनकाल को समान भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग तैयारी का था। दूसरा भाग अत्यधिक कार्यालयीय व्यस्तता, साहित्यिक गतिविधियों और परिवार तथा समूचे समाज के प्रति दायित्वों के निर्वाह से परिपूर्ण था। अतः यह आश्चर्य का विषय है कि इतनी अल्प अवधि में वह इतना कुछ कैसे उपलब्ध कर सके। उनकी निजी, कार्यालयीय तथा घरेलू समस्याएँ थीं। जब समस्याएँ उद्विग्नकारी तथा गंभीर हो जातीं तो वह रचनात्मक लेखन में अपने को व्यस्त कर लेते। ऐसी परिस्थितियों में दूसरे लोग कोई उपयोगी कार्य कर सकने में अपने को असमर्थ पाएंगे। पुस्तकें या प्रबंध लिखने में पर्याप्त अनुसंधान, चिंतन और अध्ययन की जरूरत होती है तथा यह कार्य निस्सन्देह कष्टप्रद होता है। पिछले अध्याय में हमने देखा है कि राजराज वर्माने किस स्तर की कितनी संख्या में और कितने तरह की रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। वह इन ठोस कार्यों से बीच-बीच में कुछ राहत पाना चाहते थे—समय गंवाकर नहीं, बल्कि अपेक्षया सरल साहित्यिक कार्य करके, जैसे कि अनुवाद आदि। उन्होंने संस्कृत से छः ग्रंथों और अंग्रेजी से एक ग्रन्थ का अनुवाद किया। उस रचनात्मक प्रतिभा वाले इस विद्वान् शोधकर्ता के लिए अनुवाद एक रोचक ढंग का साहित्यिक मनबहलाव था।

मेघदूत

अपने कार्यकाल की प्रारंभिक अवधि में उन्होंने कालिदास के 'मेघदूत' का मलयालम में अनुवाद करना शुरू किया। यह कार्य कई महीनों में १८६४ में समाप्त हो पाया। मलयालम काव्य में यह उनका प्रथम विशद प्रयास था। इस पुस्तक की भूमिका में उन परिस्थितियों की ओर संकेत किया गया है जिनमें उन्होंने अनुवाद कार्य करने का निश्चय किया था। 'केरल पाणिनीयम्' की रचना के दौरान कभी उनके मस्तिष्क में यह विचार आया था कि 'मेघदूत' जैसी शास्त्रीय रचना का यदि मलयालम में अनुवाद कर दिया जाए तो मलयालम और संस्कृत

में वाक्यविन्यास का अन्तर पहचानने की दिशा में यह एक सराहनीय कार्य होगा।

उनकी डायरी से पता चलता है कि वह प्रतिदिन कुछ श्लोकों का अनुवाद किया करते थे। यहाँ तक कि हरिष्याट तक टहलते जाते समय भी कतिपय श्लोकों का अनुवाद करना उनके लिए एक मनबहलाव था। राजराज वर्मा उन छंदों को सरल मलयालम में अनुवाद करना चाहते थे ताकि संस्कृत में विशेषज्ञता न रखने वाले लोग भी इन कविताओं का आनंद उठा सकें। अनुवाद को मूल की भावसंपदा से पूर्ण रखने के लिए वह उत्सुक थे। फिर भी ए० आर० ने उन्हीं छंदों में अनुवाद किए जाने की जरूरत महसूस नहीं की। मौलिक छंद मंदाक्रांता है, परंतु अनुवाद शार्दूल विक्रीडितम् में है। हर पंक्ति के द्वितीय पद्यांश में तुक का प्रयोग भी उन्होंने हर जगह नहीं किया है जो कि मलयालम में बहुत लोकप्रिय है। उनकी दृष्टि में ये सीमाएँ कम-से-कम अनुवाद के मामले में, आवश्यक नहीं हैं। संस्कृत कविता का मलयालम में अनुवाद करने का हालांकि यह उनका पहला प्रयास था, परन्तु उन्हें इसमें सराहनीय सफलता मिली।

कुमारसंभवम्

'मेघदूत' के अनुवाद से प्राप्त सम्मान से राजराज वर्मा का उत्साह इतना बढ़ा कि उन्होंने थोड़े समय के बाद ही एक और रचना के अनुवाद का बीड़ा उठाया। १८६४ में वह एक छात्र को 'कुमारसंभवम्' पढ़ाया करते थे और इसके लिए कुछ टिप्पणियाँ तैयार की थीं। साथ-साथ ही वह इस काव्य का अनुवाद करते गए। हालांकि काव्य का अध्यापन बन्द हो गया; परन्तु अनुवाद जारी रहा। यह अनुवाद १८६५ में पूरा हुआ और १८६७ में प्रकाशित हुआ।

उन्होंने आठ में से केवल छः सर्गों का अनुवाद किया। इनके बारे में सभी आलोचक सहमत हैं कि ये कालिदास द्वारा रचित हैं। 'रतिप्रलाप' से संबंधित चौथे सर्ग को संक्षिप्त कर दिया गया है और आठवें सर्ग को, अत्यंत श्रृंगारिक होने के कारण, छोड़ दिया गया है। यह अनुवाद 'मेघदूत' से भी अधिक आकर्षक हुआ है। कई पाठ्यक्रमों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में अनुमोदित किए जाने के कारण इसके कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। कतिपय रूढ़िवादी आलोचकों का कहना है कि इन दोनों अनुवादों में बोलचाल के रूपों का अतिरेक है, परन्तु लेखक ने इसका जानबूझकर प्रयोग किया है।

शाकुंतलम्

लेखक ने कालिदास के 'शाकुंतलम्' का अनुवाद विशेष परिस्थितियों में शुरू किया था। इस महान् काव्य ने युगों से मलयालम के विद्वानों और कवियों को

अभिभूत किया है और उनके लिए चुनौती बना रहा है। पिछले सौ वर्षों के दौरान केरल में लगभग एक दर्जन कवि अपनी भाषा मलयालम में इसे प्रस्तुत करने के लिए परिश्रम करते रहे हैं। मूल ग्रंथ इतना उत्कृष्ट है कि हर मामले में उन्हें आंशिक सफलता ही मिली। अनुवाद का प्रथम प्रयास स्वयं केरल वर्मा ने किया था। १८८२ में प्रकाशित इस अनुवाद को अभूतपूर्व सफलता मिली। परन्तु इसमें आलंकारिक शैली तथा संस्कृत शब्दों और समासों का इतना बाहुल्य था कि केवल उच्चवर्गीय व्यक्तियों का ही यह प्रियपात्र बन पाया। राजराज वर्मा ने इस उपलब्धि का श्रेय स्वीकार करते हुए महसूस किया कि इसमें मलयालम भाषा की प्रतिभा कई स्थलों पर खंडित हुई है और इसलिए चाचा ने उनसे इसका एक संशोधित संस्करण तैयार करने के लिए कहा। ए० आर० ने अपने कुछ सुझाव रखे, परन्तु लेखक ने अधिकांश को स्वीकार नहीं किया। इस प्रकार संशोधित संस्करण 'मणिप्रवाल शाकुंतलम्' शीर्षक से १९१२ में प्रकाशित हुआ। परन्तु राजराज वर्मा का विचार था कि कम पढ़े-लिखे पाठकों के लिए इस ग्रंथ का एक सरलतर संस्करण आना चाहिए। उन्होंने शीघ्र ही अनुवाद शुरू कर दिया जो 'मलयाल शाकुंतलम्' शीर्षक से (१९१२) सामने आया।

इन दो अनुवादों का तुलनात्मक विवेचन करना कठिन है। दोनों की अपनी अच्छाइयाँ और कमियाँ हैं तथा दोनों ने ही इस महान् नाटक को और अधिक बोधगम्य तथा रोचक बनाने में योगदान दिया है। मौलिक ग्रंथ के प्रति राजराज वर्मा की आसक्ति का आदर्श केरल वर्मा जैसे लोगों से भिन्न था, जो छंद और मुहावरे जैसे बाह्य तत्त्वों को अनुवाद में ज्यों का त्यों रखना चाहते थे। ए० आर० 'भाव' या कल्पना और आत्मा पर विशेष ध्यान देते थे और मलयालम जैसी कम विकसित भाषा में इन्हें अधिक पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने के लिए उनका विचार था कि छंद और तुक आदि के मामले में स्वतंत्रता अख्तियार करना ज्यादा उचित होगा। 'शाकुंतलम्' जैसी कृति में संस्कृत भाषा की महान् समृद्धि और विस्तार का अधिकतम उपयोग हुआ है और इसी कारण हम देखते हैं कि आधुनिक भारतीय भाषाओं के तत्त्ववेत्ता विद्वान् अपनी भाषाओं में इस ग्रंथ की उत्कृष्टता का स्पर्श प्राप्त करने का कठिन प्रयास करते रहे हैं।

मालविकाग्निमित्रम्

'शाकुंतलम्' एक महान् काव्य ही नहीं, महान् नाटक भी है। १८८२ में पहली बार प्रकाशित केरल वर्मा का 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' यद्यपि संस्कृतनिष्ठ मणिप्रवाल शैली में निष्पन्न किया गया था, फिर भी मंच पर भी इसने अत्यधिक ध्यान आकर्षित किया। इसने अन्य संस्कृत नाटकों को मलयालम में अनुवाद किए जाने का सूत्रपात किया और शीघ्र ही नाटक को साहित्यिक विधा के रूप में

मान्यता प्राप्त हो गई। राजराज वर्मा के 'शाकुंतलम्' को भी मंच पर तथा मंच से बाहर अच्छी ब्याति मिली। अतः उन्होंने अन्य संस्कृत नाटकों का अनुवाद करने के लिए अपने को उत्साहित महसूस किया और कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' (१९१६) को अगले अनुवाद के लिए चुना। वस्तुतः १९१५ में मावेलिककरा में उनके 'शाकुंतलम्' नाटक के मंचन में इतनी सफलता मिली कि ए० आर० प्रतिवर्ष ऐसा एक नाटक सामने लाने की प्रतिज्ञा कर बैठे।

'मालविकाग्निमित्रम्' की भूमिका में उन्होंने कहा है, 'व्याकरण के अप्रवेश्य और मार्गविहीन वन में इधर-उधर भटक रहे मेरे मस्तिष्क को नाटक की सुन्दर वाटिका में आराम करने से कितनी राहत मिली, उस आनन्द की उत्कंठा को रोकना कठिन है और इसी कारण मैंने 'मालविकाग्निमित्रम्' का अनुवाद किया, चाहे उसमें मुझे सफलता मिली या विफलता' (अंग्रेजी अनुवाद इस पुस्तक के लेखक द्वारा)।

अनुवाद-कार्य मावेलिककरा में ही शुरू हुआ और पूरे जोश से त्रिवेन्द्रम आने पर चलता रहा और दो महीने में ही पूरा हो गया। जिन विद्वान् मित्रों ने कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों के अनुवाद सुने उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि उनमें से कुछ मूल से अच्छे हैं। ऐसा कहना निस्सन्देह अतिशयोक्ति है। १९१६ में कलाविलासम नाट्य मंडली ने 'मालविकाग्निमित्रम्' का मंचन किया और उसे भी अभूतपूर्व सफलता मिली।

चारुदत्तम्

१९१७ की गमियों में उपर्युक्त कलाविलासम् नाट्यमंडली ने तम्पुरान से एक और नाटक की माँग की। इस बार वह अभिनय तथा विविध पात्रों से और अधिक भरपूर नाटक देना चाहते थे। पहले तो शूद्रक का 'मृच्छकटिकम्' चुना गया परन्तु उसके कई दृश्य बहुत लम्बे थे। इसके बाद उन्होंने भास के 'चारुदत्तम्' पर विचार किया, जिसने लेखक को नाटकों की ओर प्रेरित किया था। अतः उन्होंने 'चारुदत्तम्' के प्रथम चार अंकों का अनुवाद करने और निष्कर्ष के रूप में 'मृच्छकटिकम्' के परवर्ती भाग को संक्षिप्त करके देने का निश्चय किया। हमेशा की तरह उन्होंने पहले काव्य का और बाद में गद्य का अनुवाद किया। प्रारम्भ में कार्यकारी प्रधानाचार्य के रूप में उनकी अपनी व्यस्तताओं से बिलंब तो हुआ परन्तु शीघ्र ही वह पूरे जोर-शोर से उसमें लग गए। उनकी डायरी से इस कार्य में उनकी लगन और रूचि का पता लगता है :

'तड़के उठा और स्नान के समय तक एक दर्जन छंदों का अनुवाद कर डाला। इस बात की ओर पूरा सजग था कि काव्यदेवता को बहलाकर प्रसन्न रखना होगा; इसलिए मैंने कालिज में पढ़ाने के सिवा हर काम को उपेक्षित कर रखा था। टेनिस

खेलते समय भी मेरा मस्तिष्क कविता के क्षेत्र में विचरण करता रहता था। रात को अच्छी नींद नहीं आती थी। परन्तु कई कठिन छंदों का आसानी से अनुवाद पूरा हो गया।

'सुबह से ही कविता की कल्पना भूमि में पैठा रहा। शूद्रक के छंदों में न तो भास जैसा सहज सौन्दर्य था और न ही परवर्ती कवियों जैसी कलात्मक पूर्णता और निष्पन्नता। अतः मलयालम में अनुवाद करने से पहले उन छंदों के संशोधन का अवसर मेरे पास था।'

अनुवाद कार्य घड़ी की सुई की भांति व्यवस्थित रूप से प्रगति कर रहा था। अनुवाद करना, जाँचना, प्रूफ़ देखना साथ-साथ होता रहा और पुस्तक भी आशा से कम समय में ही प्रकाशित हो गई। अनुवादक ने इसमें अन्य अनुवादों की अपेक्षा अधिक स्वतंत्रता बरती है।

स्वप्नवासवदत्तम्

ए० आर० के लिए एक नए नाटक का अनुवाद और प्रकाशन वार्षिक कार्यक्रम बन गया। १९१८ में उन्होंने भास के 'स्वप्नवासवदत्तम्' को हाथ में लिया। हालांकि यह नाटक भी सफल रहा परन्तु इसमें अन्य नाटकों की अपेक्षा हास्य कम था। विद्वेषक चौथे अंक में आता है और कुल मिलाकर नाटक का परिवेश कम आनंदमय है।

नाटक का अनुवाद आराम से और आनन्दपूर्वक संपन्न हुआ। ए० आर० ने भास की प्रवृत्ति और भावना से इतनी अच्छी तरह साक्षात्कार कर लिया था कि अनुवाद अनुकूलित जैसा हो गया था और ऐसा होना ही इस अनुवाद की विशिष्टता है। हमारे महान् लेखक का यह अंतिम अनुवाद था। इसके बाद वह केवल तीन महीनों तक ही जीवित रह पाए।

संस्कृत से किए गए इन सभी अनुवादों के अनेक पुनर्मुद्रण हुए। कई बार इनका अनुभोदन स्कूलों-महाविद्यालयों के पाठ्यक्रमों में हुआ और आज भी इनकी प्रतिष्ठा है। इन अनुवादों को एक आधिकारिक शिल्पी की रचनाओं के रूप में सराहा जाता है।

उद्दालचरितम्

अब हम एक दूसरे स्रोत से संस्कृत गद्य में किए गए बिल्कुल भिन्न ढंग के अनुवाद का विवेचन करेंगे। मूल कृति शेक्सपियर का 'ओथेलो' है। यह राजराज वर्मा के प्रारंभिक अनुवादों में (१८६८) से एक है। स्पष्ट कहा जाए तो यह अनुवाद नहीं बल्कि रूपांतर है। इसका उद्देश्य उन संस्कृत पाठकों को एक महान् कवि की रचनात्मक कल्पना से परिचित कराना था जो शेक्सपियर से अनभिज्ञ थे। पात्रों

के नाम बदल दिए गए हैं (ओथेलो—उदाल, डेसडेमाना—दोषदमना आदि) ताकि संस्कृत में पढ़े रखने वाले यूरोपीय पाठकों को झुंझलाहट न हो। पूरे नाटक को लैंग के 'टेलस फ्रॉम शेक्सपियर' की तरह संक्षिप्त करके सरल संस्कृत गद्य में अनूदित किया गया है।

अध्याय ७

रचनात्मक और आलोचनात्मक लेखन

पिछले अध्याय में हम राजराज वर्मा के अनुवादों की चर्चा कर रहे थे। सामान्य अर्थों में अनुवाद किसी कृति का भिन्न भाषा में उल्था करना होता है। मौलिक कृति रचनात्मक या मात्र सूचनात्मक, कौसी भी हो सकती है। यदि वह रचनात्मक है तो अच्छे अनुवाद को एक कदम और आगे जाकर 'प्रतिसृजन' होना पड़ता है। ए० आर० ने संस्कृत के महान् ग्रंथों के साथ ऐसी ही कुशलता का निर्वाह किया है। इसी वजह से केवल रचनात्मक प्रतिभा संपन्न व्यक्ति ही काव्यानुवाद कर सकते हैं। जो भी हो, प्रतिसृजन को भी मौलिक कृति की रचना के समान महत्त्व दिया जा सकता है। मौलिक रचनात्मक कृति में रचनात्मक ऊर्जा प्रायः अपनी पराकाष्ठा पर तथा स्वतंत्र और स्वतःस्फूर्त होती है। अब हम मौलिक कवि के रूप में राजराज वर्मा के योगदान की परख करेंगे।

संस्कृत रचनाएँ

हम यह पहले ही देख चुके हैं कि राजराज वर्माने संस्कृत में कविता लिखने के साथ अपने लेखक जीवन की शुरुआत की थी और ३१ वर्ष की अवस्था में मलयालम की ओर आकर्षित हुए थे। उन्होंने संस्कृत में कुल २२ रचनाएँ लिखीं, जिनमें अधिकांश अपेक्षाकृत लघुकाय हैं। 'गैरवाणीविजयम्' नाटक और 'ओथेलो' के गद्य रूपांतर की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। 'आंग्ल-साम्राज्यम्' महाकाव्य एक बड़ी रचना है, जिसके विस्तृत विवेचन की जरूरत है। हमने शोक-प्रधान दो लघु कृतियों—'भग्नविलापम्' और 'पितृप्रलापम्' की भी चर्चा की है। इसके बाद कुछ रचनाएँ या तो 'स्तोत्र' (भक्त्यात्मक) या 'प्रशस्ति' (राजाओं की प्रशस्ति) श्रेणी की हैं। इनमें अधिकांश को एक उत्साही कवि का प्रारंभिक प्रयास कहा जा सकता है। हालांकि उनमें विद्वत्ता और कविप्रतिभा की शलक है, फिर भी ये विकसमान कवि की रचनाएँ ही कही जायेंगी। हम कुछ संस्कृत रचनाओं के आधार पर यह समझने का प्रयास करेंगे कि शास्त्रीय साहित्य में पूरी तरह पारंगत एक व्यक्ति कैसे विद्रोही स्वच्छन्दतावादी के रूप में परिवर्तित हो गया।

साहित्य कौतूहलम्

यह ए० आर० की प्रारंभिक कविताओं का संग्रह है जो तुलूर नारायण शास्त्रिकल नामक विद्वान् की उपयुक्त टिप्पणियों के साथ प्रकाशित हुआ था। इसमें 'सरस्वतीस्तवम्' (१८६०), 'धीणाष्टकम्' (१८८७), 'रागमुद्रसप्तकम्' (१८६६), 'विमानाष्टकम्' (१८६१), 'हिन्दुपदव्युत्पत्ति' (१८६०), 'पितृप्रलापम्' (१८८६) और 'देवीदंडकम्' (१८८८) शीर्षक रचनायें सम्मिलित हैं। सभी कविताएँ एक शिल्पी के रूप को हमारे लेखक की योग्यता में दिखाती हैं, परन्तु कवि तुलूर के मतानुसार 'पितृप्रलापम्' हर तरह से एक अच्छी कविता है।

गैरवाणी विजयम्

जैसा कि पहले ही संकेत किया गया है, यह छंदबद्ध एकांकी है। इसमें 'गैरवाणी' (संस्कृत) तथा 'होणि' (अंग्रेजी) दो पात्र हैं। यह रचना संस्कृत विद्वान् पुन्नशेरि नम्पि के अनुरोध पर उनके द्वारा संपादित पत्रिका 'विज्ञान चिन्तामणि' के लिए लिखी गई थी। उनके आग्रह का दवाव ऐसा था कि रचना छः दिनों में पूरी करनी पड़ी थी। त्रिवेन्द्रम में संस्कृत पाठशाला की स्थापना के समय १८८६ में लिखा गया यह नाटक तत्कालीन स्थितियों का उद्घाटन करता है।

संस्कृत और अंग्रेजी की विचारधारा में अन्तर तथा अंग्रेजी द्वारा संस्कृत को पराभूत करने की इच्छा इस नाटक का कथ्य है। संस्कृत की माता भारती देवी अपने भाग्य की दुर्दशा पर प्रलाप करती है। यहाँ लेखक को अंग्रेजी की इच्छाओं और खामियों को दिखलाने का अवसर प्राप्त होता है। एक सुन्दर श्लोक में गैरवाणी अंग्रेजी वर्णमाला में अक्षरों की कमी के लिए अंग्रेजी पर व्यंग्य करती है। हालांकि आधुनिक पाठकों को ऐसे संवाद या तर्क बहुत धिसे-पिटे प्रतीत होंगे परन्तु इनसे उन दिनों शिक्षाविभाग के भीतर मौजूद तनाव का चित्रण होता है।

वीत विभावरी

यह संभवतः राजराज वर्मा की सर्वाधिक रोचक संस्कृत कविताओं में से एक है। कथावस्तु कुछ विशेष नहीं, केवल राधा और माधव का मिलन है तथा चार सर्गों में रात्रि के चार प्रहरों का वर्णन किया गया है। अपनी कथन शैली, शब्दों के चयन तथा अभिव्यक्ति में ए० आर० उत्कृष्ट कौशल एवं कलात्मकता प्रदर्शित करते हैं। चूंकि अंग्रेजी में अनुवाद मौलिक रचना के सौंदर्य को आयत नहीं कर सकता इसलिए यहाँ ऐसा कोई प्रयास नहीं है।

आंग्ल साम्राज्यम्

महाकाव्य शैली में लिखित इस लंबी कविता का केवल राजराज वर्मा की कविताओं में ही नहीं, वरन् आधुनिक कवियों द्वारा लिखित तमाम संस्कृत काव्यों में अप्रतिम स्थान है। 'आंग्ल साम्राज्यम्' का अर्थ है अंग्रेजों का राज्य। इस काव्य में रानी विक्टोरिया के राज्यकाल की हीरक जयंती तक के अंग्रेजी साम्राज्य की कहानी पेश की गई है। यह जयंती भारत में भव्य समारोह के साथ १८६५ में मनाई गई थी। इस महान् समारोह के समय राजराज वर्मा के दिल में ब्रिटिश राज्य को लेकर 'रघुवंशम्' महाकाव्य के आधार पर लंबी कविता लिखने का विचार आया। हालांकि प्रधान प्रेरणा समारोह की थी; परन्तु राजराज वर्मा ने सोचा कि पाठशालाओं में संस्कृत के विद्यार्थियों को इतिहास और भूगोल जैसे विषय पढ़ाए जाने चाहिए और वास्तविक इतिहास पर आधारित ऐसी पुस्तक के, हालांकि यह कविता में थी, प्रकाशन से संस्कृत में उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों का अभाव एक हृद तक पूरा किया जा सकता है। उन्होंने अपने निर्देशक केरल वर्मा से परामर्श किया जो सहमत हो गए और इस प्रकार हीरक जयंती समारोह से लगभग दो सप्ताह पहले उन्होंने अपना कार्य शुरू कर दिया। २३ सर्गों का यह काव्य दो वर्षों में पूरा हुआ। इसका प्रकाशन १९०० में हुआ।

काव्य की शुरुआत लंदन शहर के विस्तृत वर्णन के साथ हुई है। हालांकि लेखक ने उस शहर को देखा भी नहीं था, परन्तु अध्ययन तथा दूसरों से सुनकर उन्होंने अपनी कल्पना विकसित की और यह वर्णन सुगम्य तथा सुंदरता से भरपूर बन गया। इसके बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की गतिविधियाँ और एक के बाद एक सभी प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओं—अंग्रेज तथा भारतीय महापुरुषों को प्रस्तुत किया गया है—संघर्ष, शोषण, लड़ाई, समर्पण और इसके बाद अपेक्षाकृत शांतिपूर्ण शासनकाल का वर्णन है जिसमें सभी तरह के आधुनिक विकास और एक राष्ट्र के रूप में भारत का विकास संभव हुआ। ११वें सर्ग में केरल पर टीपू सुल्तान के आक्रमण का वर्णन प्रमुखता के साथ किया गया है।

उनकी डायरी के अनुसार राजराज वर्मा ने जिन पुस्तकों के आधार पर तथ्यों का संग्रह किया वे हैं: हंटर कृत 'हिस्ट्री आफ इंडिया' तथा 'दि रिट्रास्पेक्टस एण्ड प्रास्पेक्टस आफ इंडियन पोलिटी', मैकाले कृत 'एस्सेज आन क्लाइव एण्ड वारेन हेस्टिंग्स' रिचर्ड टेम्पल कृत 'पिवचरेस्क इंडिया' और मेकेन्जी कृत 'दि हिस्ट्री आफ दि नाइन्टीन्थ सेन्चुरी'। ये पुस्तकें इतिहास से सम्बन्धित हैं। वह अपने वर्णन को जीवन्त तथा रोचक बनाना चाहते थे। उनके द्वारा प्रयुक्त उपमा-अलंकारों में कुछ कालिदास का स्मरण दिलाते हैं, कुछ मौलिक हैं और कुछ पर अन्य संस्कृत महाकाव्यों के प्रभाव की झलक है।

कहा जा सकता है कि 'आंग्ल साम्राज्यम्' संस्कृत का एक महान् काव्य है। ए० आर० के मित्र और समकालीन महाकवि के० सी० केशव पिल्लै ने इसका मलयालम में अनुवाद किया है। आधुनिक पाठक को आश्चर्य हो सकता है कि संस्कृत, भारतीय भाषाओं और भारतीय संस्कृत के गौरव का बखान करने वाले राष्ट्रीय कवि ने ऐसी रचना की पहलकदमी क्यों की जिसमें उस साम्राज्य के उज्ज्वल पक्ष का गौरवगान किया गया है, जिसने भारत को आजादी देने से इन्कार कर दिया था। स्थिति समझने के लिए, पाठक यह स्मरण करें कि किस अवधि में ऐसा विचार लेखक में उत्पन्न हुआ। सौ वर्ष पहले शिक्षित भारतीयों के दिल में अंग्रेज साम्राज्य के बारे में क्या धारणाएँ थीं। भारतीय राष्ट्रीयता का जो रूप हम आज देखते हैं, उस समय पैदा ही नहीं हुआ था। जो भी हो, किसी साम्राज्य के इतिहास को आधार बनाकर कविता करना इस बात का आधार नहीं बन पाता कि उस कवि को उस शक्तिशाली साम्राज्य का चाटुकार मान लिया जाए।

मलयालम की कविताएँ

लेखक की मलयालम में काव्य-रचनाएँ अधिक नहीं हैं। उल्लेख करने योग्य दो ही कविताएँ हैं जो बहुत बड़ी तो नहीं परन्तु महत्त्वपूर्ण हैं। दोनों ही कवि के दो भिन्न पक्षों को उजागर करती हैं।

मलय विलासम्

१८९५ में रचित 'मलय विलासम्' पश्चिमी घाट पर आधारित एक रीति-काव्य है। १८९५ में मद्रास से लौटते समय कुछ दूर रेलगाड़ी से और कुछ दूर सड़क से यात्रा के दौरान कवि पश्चिमी प्रदेश के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गया। ट्रेन में बैठे किसी यात्री के बलियूर से अरुवामोषि तक की यात्रा में पश्चिमी तटों की विस्तृत दृश्यावली सहज ही आकृष्ट करती है और कवि इससे इतना संवेदित हुआ कि उस दृश्य को काल्पनिक छंदों में बांधने का लोभ वह संवरण नहीं कर पाया। पारखी विद्वानों ने २४ छन्दों की इस कविता की सराहना की है। उस समय मलयालम में रीति-काव्य का प्रचलन नहीं था। अतः सभी ने 'मलयविलासम्' की नई सुगंध का स्वागत किया। हम कह सकते हैं कि इस लघु कविता ने भाषा में नई विधा की संभावनाओं का मार्ग प्रशस्त किया और यही इसका विशेष महत्त्व है।

प्रसादमाला

'मलयविलासम्' के बाद हालांकि काव्य रचना जारी रही, परन्तु इस अवधि में मुख्यतया अनुवाद कार्य हुए। मलयालम में उन्होंने दूसरी मौलिक कविता की

रचना १९२८ में, मृत्यु से कुछ महीने पहले की। सत्तारूढ़ राजा श्री मूलम तिरुनाल की षष्ठिपूर्ति १९१८ में मनाई गई और ए० आर० ने अपने महान् शुभचिंतक को श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए काव्य-रचना करके इस अवसर का लाभ उठाया; परन्तु सामान्य अर्थ में यह लम्बी कविता केवल प्रशस्ति नहीं है। यह वद्वतापूर्ण कविता है जिसमें एक साथ अनेक देवताओं की उचित रीति से वन्दना की गई है। जैसा कि आठ मंत्रों से स्पष्ट होता है, इन कविताओं की रचना 'ऋग्वेद' के सम्यक् अध्ययन के बाद हुई थी। हिन्दू देवताओं के बाद कवि ने बुद्ध, जिन, ईसा और मुहम्मद का स्मरण किया है। इससे कवि के आध्यात्मिक और दार्शनिक झुकाव और उनके मस्तिष्क की उदारता का संकेत मिलता है।

गद्य रचनाएँ

हमने यह देखा है कि राजराज वर्मा में प्रचुर काव्य-प्रतिभा थी, परन्तु उनकी प्रतिभा का संपूर्ण विकास उनकी गद्य रचनाओं में ही देखा जा सकता है। वह अधिकारी गद्य लेखक थे और उन्होंने दूसरों के पथप्रदर्शन के लिए आधुनिक गद्य का मानक विकसित किया। उन्होंने कई तरह के गद्य लिखे—सूचनात्मक, रचनात्मक, आलोचनात्मक और व्याख्यात्मक। उनके अधिकांश गद्य लेखन में काव्यशास्त्र और व्याकरण से संबंधित रचनाएँ हैं जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति शुष्क तथा तथ्यविहित होती है। यहाँ भी राजराज वर्मा हमें भिन्न रूप में दिखते हैं। कठिन भाषावैज्ञानिक और दार्शनिक समस्याओं को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने घरेलू उपमाओं और संकेतों का प्रयोग किया है। उनके गद्य में एक विशेष प्रवाह है जिसका अनुकरण करना अन्य लोगों के लिए ऐसे वैज्ञानिक विषयों पर लिखते समय कठिन है। इस प्रतिभा का एक विशिष्ट उदाहरण 'केरल पाणिनीयम्' की लम्बी भूमिका है।

अब हम उनके निबन्धों तथा साहित्यिक आलोचना से संबंधित रचनाओं पर विचार करेंगे जो संख्या में तो अधिक नहीं, परन्तु गुणवत्ता में उच्चस्तरीय हैं। संक्षिप्तता, विचारों के तर्कपूर्ण निर्वाह, स्पष्टता, अभिव्यक्ति की सुन्दरता और स्पष्टता के लिए उनके गद्य लेखन की सराहना की जाती है।

साहित्यिक आलोचना

राजराज वर्मा के समय मलयालम में साहित्यिक आलोचना अपनी शैशवावस्था में थी। विद्वत्गण केवल काव्य-रचना के बाह्य उपकरणों के विश्लेषण-मूल्यांकन तथा व्याख्यात्मक टिप्पणी लेखन की पारम्परिक पद्धति से ही परिचित थे। पश्चिमी साहित्य के प्रभाव से ही साहित्यिक कृतियों के भीतरी मूल्य को उजागर करने का विचार पैदा हुआ।

‘नलचरितम्’—नया संस्करण

राजराज वर्मा ने कथकली शैली में लिखित उन्नवी वैरियार की प्रसिद्ध कृति ‘नलचरितम्’ (१९०५) की जिस ढंग की समीक्षा लिखी थी वह साहित्यिक समीक्षाओं की आँख खोलने वाली चीज थी। उन्होंने यह दिखाया कि किसी प्राचीन ग्रंथ का आधुनिक आलोचनात्मक मूल्यांकन किस भाँति किया जा सकता है। ‘नलचरितम् आट्टकथा’ एक दुर्बोध रचना है और लापरवाही से मुद्रण होने के कारण यह ओर दुर्बोध बन गई है। अतः राजराज वर्मा ने स्वाभाविक गलतियों को सुधारने और दुर्बोध अंशों को लेकर टिप्पणी करने एवं व्याख्या करने का निश्चय किया। इस ढंग से तैयार किए गए संस्करण में उनकी विद्वत्तापूर्ण और आलोचनात्मक भूमिका शामिल है जो साहित्यिक आलोचना के संदर्भ में आज भी अप्रतिम है। उनकी व्याख्या को ‘कान्तारतारकम्’ (घने जलज का तारा) कहा गया है। यहाँ हम शास्त्रीय श्रेष्ठता से युक्त ग्रंथ के आन्तरिक आनन्द को व्याख्यायित और विश्लेषित करते हुए एक स्वतंत्र आलोचक और सुसंस्कृत ‘सहृदय’ का स्वरूप देखते हैं।

अन्य महान् कृतियों के लिए भूमिकाएँ

हमने पहले ही देखा है कि ‘शाकुंतलम्’ के केरल वर्मा द्वारा किए गए अनुवाद का संशोधित संस्करण १९११ में प्रकाशित हुआ। इसमें राजराज वर्मा द्वारा लिखा गया प्राक्कथन रसों से संबंधित एक गंभीर लेख था। संदेश-काव्यों की श्रेणी में असाधारण रचना के रूप में स्वीकृत केरल वर्मा कृत ‘मयूर संदेशम्’ की चमत्कारपूर्ण भूमिका राजराज वर्मा ने लिखी थी। हालांकि इस भूमिका में अपने निकट संबंधी के पक्ष में किंचित आग्रह वर्तमान है, परन्तु भूमिका में निस्संदेह उस महान् रचनाकार का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्राप्त होता है।

‘नलिनी’ की सराहना

परन्तु जब हम ए० आर० द्वारा लिखित कुमारन आशान की ‘नलिनी’ की भूमिका देखते हैं तो हमें मलयालम कविता के इतिहास का नया अध्याय खुलता हुआ प्रतीत होता है। कुमारन आशान को आधुनिक काल का एक अभूतपूर्व मलयालम कवि माना जाता है, लेकिन जिस समय राजराज वर्मा ने उनकी रोमानी कविता ‘नलिनी’ का परिचय कराया उस समय उन्हें कम लोग ही जानते थे। हालांकि ‘ओरुवीणापुवु (गिरा हुआ फूल, १९०७) के प्रकाशन से उनकी ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हुआ परन्तु यह पर्याप्त नहीं था—खास कर इसलिए कि, वह ईष्य जाति के पिछड़े समुदाय से संबद्ध थे और उच्च जाति के कवि

तथा विद्वान् ऐसे लेखकों की सराहना से कतराते थे।

इसका श्रेय राजराज वर्मा को है कि उन्होंने इतना पहले ‘नलिनी’ में स्वच्छ प्रकाश की एक रेखा देखी। वह सार्वजनिक रूप से स्पष्टतः यह घोषित करना चाहते थे कि इस कविता में एक नई चिनगारी है। ‘नलिनी’ एक नये ढंग की प्रेमकथा है। ए० आर० ने इसमें परिपाटीबद्ध रचना का मोह छोड़ने के लिए कवि को सराहा है। उन्होंने कुमारन आशान में महान् संभावना का कवि देखा और ‘नलिनी’ को एक ऐसी अभूतपूर्व रोमानी कविता घोषित किया जिसके लिए मलयालम भाषा दीर्घकाल से प्रतीक्षारत थी। कुमारन आशान के लिए यह कितना उत्साहवर्धक था। भविष्य के इतिहास ने यह निस्संदेह प्रमाणित किया है कि राजराज वर्मा का कथन कितना सही था। अब हर व्यक्ति उनकी गहन अंतर्दृष्टि, आधुनिक दृष्टिकोण तथा मंत्रद्रष्टा सूझ-बूझ की सराहना करता है। परन्तु उन दिनों अधिकांश प्रतिष्ठित कवि और विद्वान् ए० आर० को विवेकहीन समझते थे।

अन्य भूमिकाएँ

प्रसिद्ध कवि और नाट्यकार वी० कृष्णन तम्पी राजराज वर्मा के विशिष्ट शिष्य थे। उनका उपन्यास ‘कपाल कुंडला’ (१९१४) हालांकि मौलिक रचना है परन्तु इसी शीर्षक से बंकिमचन्द्र के उपन्यास से इसमें प्रेरणा ग्रहण की गई है। राजराज वर्मा ने इस उपन्यास की महत्त्वपूर्ण भूमिका लिखी थी।

उन्होंने के० एम० कुरुप के उपन्यास ‘सौदामिनी’ (१९१४) की भी भूमिका लिखी। यह भी रोचक तथा ज्ञानवर्धक है। इस भूमिका में ऐसी कहानियों के जरिए पाठकों का ज्ञान बढ़ाने में नैतिक मूल्यों को उजागर करने का महत्त्व स्पष्ट किया गया है।

निबन्ध

राजराज वर्मा ने ज्योतिष में विस्तृत और गहन अनुसंधान किया था तथा उन्हें उससे गहरा लगाव था। उन्होंने ‘दि एस्ट्रोलाजी आफ़ केरल’ और ‘पंचांग शुद्धि पद्धति’ शीर्षक से विद्वत्तापूर्ण निबन्ध लिखे। उन्होंने कुन्डिकुट्टन तम्पुरान द्वारा किए गए ‘महाभारत’ के अनुवाद की सराहना करते हुए एक निबन्ध लिखा था। स्कूलों तथा महाविद्यालयों की पाठ्यपुस्तकों के लिए भी ए० आर० ने कुछ निबन्ध लिखे। इन निबन्धों में मलयालम में गद्य-लेखन की शैली निर्धारित करने में सहायता पहुँचाई है।

अध्याय ८

साहित्यिक पुनर्जागरण के अग्रदूत

अब तक आपने विद्वत्ता के क्षेत्र में राजराज वर्मा की उपलब्धियों का आंशिक परिचय प्राप्त किया है। इस अध्याय में हम कुछ अंशों को सूत्रबद्ध करने और उनका पूर्ण तथा व्यापक चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास करेंगे। हमने देखा है कि उनका जीवन, खासकर द्वितीयाध में, पूर्णतः व्यस्त था—जब वह शोधकर्त्ता, नियोजक, कवि, ब्याकरण और आलोचक जैसे निजी उद्यमों पर पर्याप्त ध्यान देने के अतिरिक्त संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं के शैक्षणिक पाठ्यक्रमों के संयोजक और शिक्षक का भी दायित्व निर्वाह कर रहे थे। ज्ञानार्जन उनकी प्रकृति में शामिल था। उनके भीतर ऐसे असाधारण लक्षणों का संयोग था जो एक साथ प्रायः नहीं दिखते। ऐसे विद्वान् और शोधकर्त्ता होते हैं जिनमें तनिक भी रचनात्मक प्रतिभा नहीं होती। हम ऐसे रचनात्मक प्रतिभाओं से भी परिचित हैं जो ज्ञानार्जन की असाध्य प्रक्रियाओं से दूर रहते हैं। ऐसे लोग भी हैं जो घंटों अपने रुचिकर विषयों से संबंधित कार्य करते रहते हैं और आमोद-प्रमोद तथा विनोद करने में या तो अक्षम हैं या उनकी रुचि नहीं होती। परन्तु यहाँ हम एक ऐसे व्यक्ति की चर्चा कर रहे हैं जो सही अर्थों में शोधकर्त्ता, कवि और रसिक था, जो कठिन परिश्रम करता था और जीवन का उपभोग भी करता था।

उनकी साहित्यिक कृतियों से ऐसा लगता है जैसे, उनके व्यक्तित्व के दो भाग हों। राजराज वर्मा का पालन-पोषण पारम्परिक ढंग से प्रतिभाशाली विद्वान् कवि केरल वर्मा के निर्देशन में हुआ था। उनकी सभी प्रारम्भिक रचनाएँ संस्कृत में थीं और उस समय उन्हें अपनी मातृभाषा मलयालम में, जो अपेक्षतया कम विकसित थी, कविता करना अपमानजनक प्रतीत हुआ होगा। वह संस्कृत में रचना करने में आनन्द अनुभव करते और उस भाषा के महान् विद्वानों का अनुकरण करने का प्रयास करते थे। कुछ वर्षों बाद हम उसी राजराज वर्मा को संस्कृत समासों और अभिव्यक्तियों का परित्याग करते और साधारण मलयालम के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए पाते हैं। हम यह भी देखते हैं कि वह केरल वर्मा को उनके 'शाकुंतलम्' के अत्यन्त आलंकारिक अनुवाद को संशोधित करने के

लिए राजी कर लेते हैं। राजराज वर्मा ने सरल मलयालम में केवल रचना और अनुवाद ही शुरू नहीं किया बल्कि मलयालम गद्य की ओर भी बढ़े, जो उन दिनों कम प्रतिभा वाले रचनात्मक लेखकों का क्षेत्र था। केरल वर्मा भी कभी गद्य लिखा करते थे; परन्तु वह गद्य, जैसा कि उनके उपन्यास 'अकबर' में दिखता है, भड़कीला और बनावटी था। स्कूल के विद्यार्थियों के लिए लिखते समय वह निस्संदेह सरल गद्य लिखते थे, परन्तु ऐसा करना वस्तुतः उनका अनुग्रह था।

राजराज वर्मा के संदर्भ में ऐसी स्थिति नहीं थी। वह सरल और सीधा मलयालम लिखना बेहतर समझते थे और बहुत जरूरी होने पर ही संस्कृत शब्दों या अभिव्यक्तियों का प्रयोग करते थे। गद्य-लेखन में वह इतने व्यस्त रहते थे कि काव्य-रचना उनके लिए शौक और आमोद का विषय बन गया था। हम यह भी कह सकते हैं कि उनके भीतर का वैज्ञानिक और आलोचक उनके कवि को परिधि पर ला खड़ा करता था। प्रारम्भिक संस्कृत रचनाओं के परिपाटीबद्ध और शृंगारिक वर्णन से हटकर जब हम 'कुमारसंभवम्' और 'शाकुंतलम्' के अनुवाद तक आते हैं तो हमें उनकी रुचि में एक विशेष बदलाव दिखाई पड़ता है। 'नलचरितम्' और 'साहित्य सहायम्' के आलोचनात्मक संस्करण जैसी उनकी गद्य रचनाओं से हमें उनके व्यक्तित्व तथा साहित्य के प्रति उनके रुच में परिवर्तन का आभास होता है। राजराज वर्मा के दो रूप हैं: परम्परावादी प्रारम्भिक ए० आर० और आधुनिक परवर्ती ए० आर०। यह पुनर्जन्म कब और कैसे हुआ इसका उत्तर देना कठिन है। यह विकास और क्रांति एक ही साथ दोनों हैं। यदि आमतौर पर कहा जाए तो प्रारम्भिक और परवर्ती राजराज वर्मा के बीच का फर्क १९वीं और २०वीं शताब्दी के बीच का फर्क है। उनकी साहित्यिक रचनाओं को देखते हुए यह कहना ज्यादा गलत नहीं होता कि १९०० के आसपास उनके दृष्टिकोण में एक निश्चित परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

साहित्यिक पुनर्जागरण

राजनीतिक और सामाजिक बदलावों के परिप्रेक्ष्य में ए० आर० के परिवर्तन को अच्छी तरह समझा जा सकता है। कोई भी व्यक्ति, चाहे वह कितना भी महान् हो, अपने चतुर्दिक के समाज द्वारा बहुत हद तक निर्मित होता है। दूसरी तरफ कुछ व्यक्ति उस समाज को एक नई दिशा की अनुभूति देते हैं जिसके वह अंग होते हैं। केरल वर्मा, राजराज वर्मा, चंदु मेनन और सी० वी० रामन पिल्लै जैसे अग्रणी चिंतकों की भूमिका को समझने के लिए हमें यह महसूस करना पड़ेगा कि मलयालम साहित्य भारतीय साहित्य का एक अंश है और भारतीय साहित्य स्वयं राजनीतिक और सांस्कृतिक भारतीय जीवन पर आधारित है। साहित्य जीवन की तरह ही विशाल है और साहित्य के लिए परंपरा का

चित्रण करने के साथ-साथ जीवन के क्रांतिकारी पक्ष को सक्रिय करना अनिवार्य है।

अंग्रेजी का प्रभाव पाश्चात्य सभ्यता के आकर्षण के साथ आना शुरू हुआ था, परंतु शीघ्र ही इसकी प्रबल प्रतिक्रिया हुई। हमारी अपनी विरासत के लिए गर्व की भावना का संचार हुआ जिसका परिणाम पुनर्जागरण है। मूलतः इसका प्रारंभ अंग्रेजी शिक्षा के प्रत्युत्तर में धार्मिक और सांस्कृतिक धारा में पुनर्जागरण के रूप में हुआ। इसकी अवधि १८५७ से १९०५ तक की मानी जा सकती है। दूसरा उत्थान राष्ट्रीय जागरण और स्वराज्य आन्दोलन १९०५-१९२० तक रहा। तीसरी उठान स्वभावतः ही गांधी जी के आंदोलन : १९२०-१९४७ के साथ आई।

उपर्युक्त घटनाओं का साहित्य पर क्रमिक प्रभाव पड़ा—कभी विलम्ब से तो कभी अभिम्। यही स्थिति हमें संपूर्ण भारतीय साहित्य में प्राप्त होती है। केरल के इतिहास से पता चलता है कि आधुनिक जागरण का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण काल वर्तमान शताब्दी के १५ वर्ष पहले से १५ वर्ष बाद तक (१८८५-१९१५) रहा है। पश्चिमीकरण से हिन्दू धर्म को अंधविश्वासों और पुराने रीति-रिवाजों से विरत होने, महिलाओं की स्थिति सुधारने और बहुविवाह एवं जातिवाद का तिरस्कार करने में सहायता मिली। केरल के सामाजिक धार्मिक-जागरण के बारे में जानकारी ट्रावनकोर के महाराज की सेवा में प्रस्तुत दो संस्मरण-ग्रन्थों से प्राप्त होती है : एक 'मालमाली मेमोरियल' (१८९१) जिसमें नौकरियों में ब्राह्मणों के एकाधिकार का विरोध है, और दूसरा 'ईषावा मेमोरियल' जिसमें ईषावा समुदाय के दारिद्र्य पर ध्यान आकृष्ट किया गया है। शीघ्र ही श्री नारायण गुरु की प्रेरणा से एषावा समुदाय के लिए 'एस० एन० डी० पी० योगम्' (१९०३) और मन्नत पद्मानाभन द्वारा नायर समुदाय के लिए स्थापित 'नायर सर्विस सोसायटी' (१९१४) जैसी संस्थाएं सामने आईं। नम्बूदिरि नामक उच्च जाति ने भी अपने को संगठित किया और अपनी सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए 'योगक्षेम सभा' (१९०८) की स्थापना की। इनसे सामाजिक वातावरण का परिचय मिल सकता है। लेखक और चिंतक दोनों ही सामाजिक स्थितियों तथा जीवन और साहित्य में महत्त्वपूर्ण बदलाव की आवश्यकता के प्रति सचेत थे। कुछ लोग परिवर्तन की दिशा को महसूस करने में निस्संदेह अन्यो से अधिक समर्थ थे। हमें यहाँ सार्वजनिक जागरण के बीज दिखाई पड़ते हैं।

केरल वर्मा और राजराज वर्मा

हालांकि केरल वर्मा ने अपनी तरह से साहित्यिक पुनर्जागरण के कतिपय

पक्षों को उभारा, फिर भी कुछ हद तक वह परंपरा के दबाव से प्रभावित रहे। राजराज वर्मा ने न केवल संपूर्ण क्रांति की आवश्यकता महसूस की, बल्कि उन्होंने इसका प्रत्यक्ष नेतृत्व किया और अपनी पीढ़ी के लेखकों को दिशानुभूति प्रदान की। यह समझ में आनेवाली बात है क्योंकि केरल वर्मा उनसे १८ वर्ष बड़े और उनकी पूर्ववर्ती पीढ़ी के थे। इसके अतिरिक्त उन्हें जिस तरह का राजकीय संपर्क और प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उससे केरल वर्मा एक भिन्न स्थिति पर पहुँच गए थे। वह अभिजनों के बीच रहते थे, परन्तु ए० आर० को शिक्षण संस्थाओं के शिक्षक के रूप में सभी तरह के लोगों से मिलना पड़ता था और वह जानि तथा स्तर का बिना क्याल किए हर व्यक्ति से मिलने-जुलने में आनन्द अनुभव करते थे। दोनों व्यक्तियों में कई तरह की समता होने के बावजूद उनके दृष्टिकोणों और उपलब्धियों में भिन्नता थी।

उनका आपसी संबंध विशेष किस्म का था और यह संबंध मलयालम साहित्य के इतिहास में हमें अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। चाचा और भतीजा वास्तविक अर्थों में गुरु और शिष्य थे। चाचा भतीजे से बहुत स्नेह करते थे और भतीजा चाचा का बहुत सम्मान करता था। चाचा उसके परामर्शदाता, संरक्षक और निर्देशक थे। दोनों कमोबेश एक ही वातावरण में पालित-पोषित हुए थे। फिर भी उनमें भिन्नता थी—स्पष्ट भिन्नता। भतीजा तेजी से बढ़ा और उसने अपने व्यक्तित्व तथा पीछे का विकास किया। चाचा ने उसकी योग्यताओं को इतनी अच्छी तरह पहचाना कि वह साहित्यिक मामलों में उससे परामर्श लेने लगे। दोनों एक दूसरे से इतने अधिक और निकटता से जुड़े हुए थे कि मलयालम साहित्य में इसका एक इतिहास बन गया। उनकी दीर्घ संपृक्ति में बाधाएँ, प्रच्छन्न चुनौतियाँ और एक दूसरे के प्रति समझदारी का अभाव भी रहा; परन्तु यह सब विचारों की भिन्नता से पैदा हुआ था—न कि व्यक्तिगत ईर्ष्या या द्वेष की वजह से।

केरल वर्मा को 'शाकुंतलम्' का अनुवाद करने और कालिदास जैसी काव्य प्रतिभा के कारण 'केरल कालिदास' के नाम से अभिहित किया जाता था। परन्तु लेखन शैली में श्रीहर्ष उनके आदर्श थे। काव्य-शैली और विषयवस्तु के लिए राजराज वर्मा के आदर्श कालिदास थे। यह पहले ही बताया जा चुका है कि केरल वर्मा ने 'मणिप्रवाल' शैली में लिखी गई अपनी कविताओं में संस्कृत शब्दों और अभिव्यक्तियों का निर्वाह प्रयोग किया है। वह अलंकार तथा तुक को पसंद नहीं करते थे और उत्कृष्ट अभिव्यक्ति तथा बाह्य रूपों के प्रति विशेष रूप से सचेत थे। यह भी कहा जा सकता है कि वह काव्यशास्त्र से अभिभूत थे। कुल मिलाकर वह अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् कवि थे। कवि प्रतिभा के मामले में राजराज वर्मा अपने चाचा की बराबरी नहीं कर सकते थे। वह एक विद्वान्

आलोचक थे और उन्होंने अपने भीतर कला के प्रति रुचि विकसित की थी। उनके लिए कविता का प्रवाह और कल्पना काव्यशास्त्र से अधिक महत्त्वपूर्ण थे। शाब्दिक कलावाजियों का, जो उन दिनों के कवियों के लिए आम चीज थी, वह उपहास भी किया करते थे। उनके लिए कथ्य और विषय-वस्तु की विविधता, कल्पना की स्वच्छता, बहुविध निष्पन्नता और सबसे अधिक भावना की निर्बाधता निर्देशक तत्त्व थे। यही उस अवधि की वास्तविक रोमानी भावभूमि थी, जिसका उन्होंने सूत्रपात और दृढ़ समर्थन किया। उनके आलोचनात्मक लेखन में यह नया झुकाव स्पष्ट है। विभिन्न विचारधाराओं के आपसी तनाव से उस समय एक साहित्यिक विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसने कुछ समय के लिए साहित्य के पारखियों को आंदोलित कर दिया था।

प्रास संबंधी विवाद

मलयालम तथा अन्य भारतीय भाषाओं की कविता में प्रयुक्त होने वाले कई तरह के प्रास हैं। परन्तु हर पंक्ति के द्वितीय पदांश के साथ एक विशेष तरह का प्रास होता है जिसे 'द्वितीयाक्षर-प्रास' कहा जाता है। भाषा के अधिकांश कवियों में यह काफी लोकप्रिय हुआ था। यह शोध का विषय है कि यह प्रास इतना आकर्षक और विशेष मान्यता के योग्य क्यों माना गया? परन्तु यह परंपरा कई पीढ़ियों तक निर्बाध गति से चलती रही। यह तुकांत निस्सन्देह आकर्षक प्रतीत होता है; परन्तु इस पर ही निर्भर रहने से काव्यरचना में अपेक्षाकृत महत्त्वपूर्ण अन्य पक्षों की क्षति पहुँची है। १८९१ के प्रारंभ की किसी साहित्यिक पत्रिका में कवियों ने स्वयं हर पंक्ति के द्वितीय पदांश के साथ इस प्रास को प्रयोग में लाने की अच्छाइयों और खामियों के बारे में विचार-विमर्श किया था। महत्त्वपूर्ण कवियों में इस प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया; परन्तु अगले कई वर्षों तक यह मतभेद विवाद का रूप धारण नहीं कर सका। केरल वर्मा द्वितीय पदांश के प्रास को बनाए रखने और राजराज वर्मा उस पर निर्भर न रहने के पक्ष में थे। उनके अनुसार यह अपरिपक्व साहित्य का प्रमाण है।

विचारों की यह भिन्नता १९०८ में प्रचंड विवाद के रूप में सामने आई। इस विवाद को पैदा करने वाली कुछ परिस्थितियाँ संक्षेप में इस प्रकार हैं: राजराज वर्मा ने सोचा कि केरल वर्मा की उपस्थिति में ही इस विशेष तुकांत के विरोध में विचार प्रस्तुत करना और उनकी स्वतःस्फूर्त प्रतिक्रिया से अवगत होना बेहतर होगा। इसका अवसर उस समय आया जब महाराजा महाविद्यालय (त्रिचेन्नम) ने १९०८ में 'मलयाल-समाजम्' के वार्षिक समारोह की योजना तैयार की। राजराज वर्मा ने समाजम् के सचिव पी० अनन्तन पिल्लै को निर्देश दिया कि वह समारोह की अध्यक्षता के लिए केरल वर्मा को और इस अवसर पर

भाषण देने के लिए के० सी० केशव पिल्लै को आमंत्रित करें। कई वैचारिक विवादों में ए० आर० के दृढ़ समर्थक के० सी० केशव पिल्लै ने राजराज वर्मा के साथ मिलकर योजना बनाई और 'भाषा कविता' (मलयालम में कविता) शीर्षक से प्रबंध तैयार करके उस समारोह में पेश किया। हालांकि सामान्य तौर पर प्रबन्ध का विषय मलयालम कविता था, परन्तु उसमें समूचा बल प्रास के विरुद्ध था। यह प्रबंध काफ़ी ठोस तर्कों से भरपूर था। अध्यक्ष ने इसकी पृष्ठभूमि में मौजूद चाल और रणनीति को भाँप लिया, परन्तु उपस्थित लोगों के समक्ष भाषण देते समय व्यावहारिक रूप में वह अपने तैयार किए गए भाषण पर टिके रहे और अवसर के अनुकूल अपने विशेष तरीके से उन तर्कों का प्रत्युत्तर भी दिया। उन्होंने यह विचार व्यक्त किया कि उनके विरोधी अच्छी कविता लिखने में अक्षम हैं। उन्होंने यह भी कहा कि सर्वाधिक आनन्ददायी कविता की प्रत्येक पंक्ति के द्वितीय पदांश में स्वर और व्यञ्जन की समरूपता रहेगी।

वाद में केशव पिल्लै का प्रबन्ध 'भाषापोषिणी' में प्रकाशित हुआ। परन्तु पत्रिका के अगले अंक में केरल वर्मा का केवल अध्यक्षीय भाषण ही नहीं, अपितु कवि उल्लूर एस० परमेश्वर अय्यर का एक अन्य लेख भी छपा जिसमें के० सी० केशव पिल्लै के तर्कों की आलोचना की गई थी। इससे विभिन्न मंचों और समाचार-पत्रों के जरिए एक उग्र विवाद का सूत्रपात हुआ जिससे अनेक विद्वान् और कवि अगले तीन वर्षों तक संबद्ध रहे। अपनी-अपनी मान्यताओं के समर्थन में प्रसिद्ध कवि इस प्रास के साथ या बगैर ही 'समस्याओं' और कविताओं की रचना करते रहे। अपने भतीजे से प्रभावित होकर उदारचेता केरल वर्माने बिना इस विशेष प्रास की सहायता के 'दैवयोगम्' शीर्षक कविता की रचना की। परन्तु विवाद बना रहा और दूसरी श्रेणी के कवि भी इसमें शामिल हो गए। अंत में दोनों गुट इस बात पर सहमत हुए कि राजराज वर्मा समझौते की भावना से इस विषय पर एक लेख प्रकाशित कर सकते हैं।

परंपरा बनाम आधुनिकता

उस वैचारिक संघर्ष में वस्तुतः प्रास मतभेद के कई मुद्दों में से एक था परन्तु जहाँ यह पैदा हुआ वहाँ निस्सन्देह यह महत्त्वपूर्ण या केन्द्रीय विषय था। काव्य-रचना को लेकर पारंपरिक और आधुनिक दृष्टिकोणों के बीच यह एक तरह का शक्तिपरीक्षण था। पुनर्जागरण की प्रकृति को समझने के लिए हमें मलयालम कविता से संबंधित परंपरावादियों की मान्यताओं को जानना आवश्यक होगा।

ये मान्यताएँ संक्षेप में निम्नलिखित हैं।^१

१. के० एस० जाज़ की पुस्तक 'वेस्टर्न इन्फ्लुएन्स आन मलयालम लैंग्वेज एण्ड लिटरेचर' के १०वें अध्याय के अनुसार।

- (१) कविता की रचना किसी प्रसिद्ध पौराणिक या ऐतिहासिक कथा पर आधारित हो।
- (२) कविता विस्तृत वर्णन से संपन्न हो। इनमें पर्वत, समुद्र, ऋतु आदि के वर्णन अनिवार्य हैं।
- (३) प्रचुर अलंकार हों—ये जितने कल्पनाशील होंगे उतना ही अच्छा होगा।
- (४) वर्णवृत्ति और प्रास अच्छी कविता के आवश्यक लक्षण हैं—प्रत्येक पंक्ति के द्वितीय पदांश के साथ प्रास होना परम आवश्यक है।
- (५) प्रयुक्त छंद संस्कृत छंदों से लिए गए हों।
- (६) कविता आश्चर्य का भाव पैदा करे। प्रत्येक छंद कवि की विद्वत्ता और काव्य-कौशल पर उसके अधिकार का परिचायक हो।

दूसरे शब्दों में, कल्पना से अधिक काव्यशास्त्र को महत्त्व दिया गया। उपर्युक्त विशेषताओं में संस्कृत काव्यशास्त्र और 'महाकाव्य' का बहुत अधिक प्रभाव देखा जा सकता है।

चातुर्य से भरपूर और असाधारण रचना करने में कवियों के बीच होड़ लगी हुई थी। स्वभावतः ही गतिरोध का वातावरण छा गया। राजराज वर्मा तथा पुनर्जागरण की भावना से लैस उनके अनुयायी इस प्रवृत्ति पर काबू पाना चाहते थे। उनके प्रवक्ता राजराज वर्मा ने नए दृष्टिकोण के मूलभूत पार्थक्य की घोषणा की, जिसका विवरण नीचे दिया जा रहा है :

- (१) मलयालम में मुख्यतया आख्यानात्मक (महाकाव्य और नृत्यगीत) तथा नाटकीय (आट्टकथा) — इन दो श्रेणियों की वस्तुवादी कविता मौजूद है। विषय के चयन की कोई सीमा नहीं होनी चाहिए। विषय तभी कविता के लिए उपयुक्त है यदि वह कवि की कल्पना को जागृत करता हो। स्वागत योग्य परिवर्तन के रूप में व्यक्तिवादी कविता सामने आनी चाहिए, जैसी पश्चिमी जगत् में लोकप्रिय है।
- (२) वर्णन के लिए वर्णन की प्रवृत्ति अवांछनीय है। यदि वर्णन कविता के साधारण भाव और उद्देश्य को पूरा करता हो तो वह उचित है।
- (३) अलंकारों का बहुत अधिक प्रयोग कविता को बोझिल और बनावटी बना देता है। अलंकारों को अनिवार्य मानकर जानबूझ कर इनका प्रयोग कवि को नहीं करना चाहिए। यदि अलंकार स्वाभाविक रूप में आते हैं तो कविता में उनके लिए जगह है। दूसरे शब्दों में कविता खोखले अलंकारों से मुक्त हो।
- (४) उपयुक्त ध्वनि से युक्त शब्दों का चयन अवश्य ही उचित है, परन्तु

यह सोचना बचकानापन है कि यह किसी खास क्रम में यांत्रिक रीति से आबद्ध होता है या हर पंक्ति के द्वितीय पदांश की पुनरावृत्ति पर निर्भर करता है। इस तरह की किसी पद्धति के प्रति आसक्ति होने से स्वाभाविक वाक्य विन्यास और शब्दों के गठन के साथ अनावश्यक खींच-तान और तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। किसी खास ध्वनि पर अवांछित बल से ध्वनि के लिए भाव की बलि देने की प्रवृत्ति बढ़ेगी।

- (५) कवि को अपना मनपसंद छंद चुनने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए। रूढ़ संस्कृत छंदों पर अड़े रहने की जरूरत नहीं है। ग्रामीण धुनों से विकसित देशज मलयालम छंद गीत-काव्य के लिए खास तौर से उपयुक्त हैं क्योंकि उनमें लोच और संगीतात्मकता अधिक होती है।
- (६) विगत उपलब्धियों को आधार बनाकर रचना करना अच्छा तो है, परन्तु लेखक को रूपवादी पद्धति का अनुकर्ता नहीं बनाना चाहिए। काव्य में भाव महत्त्वपूर्ण होता है, कल्पना नहीं। शिल्प के ऊपर कला की प्रमुखता होनी चाहिए।

इस विवाद में ए० आर० की भूमिका इतनी महान् थी कि उनके नए सिद्धान्त को 'राजराज वर्मा प्रस्थानम्' कहा गया।

साहित्यिक लेखन की नई दिशा

हालांकि इन सिद्धान्तों का उद्देश्य काव्य-रचना था, परन्तु सामान्य रूप में ये गद्य के लिए भी उपयुक्त थे। युवा पीढ़ी, खास कर अंग्रेजी में शिक्षित लेखकों और साहित्य के मर्मज्ञों ने स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता के इस नए महत्त्व का स्वागत किया। उपर्युक्त सिद्धान्तों तथा सामने लाए गए उदाहरणों की सावधानी से जाँच करने पर हम देखते हैं कि राजराज वर्मा ने मलयालम में साहित्य लेखन को एक नई दिशा प्रदान की। उन्होंने नियमों-फार्मूलों सहित कविता की संकुचित धारणा और शास्त्रीय मानों पर शुष्क निर्भरता के ऊपर कटु प्रहार किया। उन्होंने घोषणा की कि काव्य हो या गद्य—दोनों में तकनीक को प्रेरणा का सहयोगी होना चाहिए। रूढ़िवादी पंडितों और प्रतिक्रियावादियों के शीत युद्ध के परिप्रेक्ष्य में यह घोषणा काफ़ी महत्त्वपूर्ण है। आधुनिक साहित्य को राजराज वर्मा का यह मुख्य अवदान है। भाषा के संदर्भ में हमने देखा है कि राजराज वर्मा ने अपने विशिष्ट व्याकरण से वैज्ञानिक अध्ययन की नींव डाली। यह ग्रंथ समय की कसीटी पर खरा उतरा है। जैसा कि कवि उल्लूर का कथन है, राजराज वर्मा ने केरल की भाषा और साहित्य 'कैरली' की नींव को मजबूत किया और उसकी अधिसंरचना को सजाया है। वह कई क्षेत्रों में पथप्रदर्शक, अप्रतिम प्रतिभाशाली और मानसिक शक्तियों के मुक्तिदाता थे। अन्य उद्भट लेखकों की

तुलना में वह राजराज वर्मा ही थे जिन्होंने शताब्दी के उत्तरार्ध में मलयालम साहित्य के महान् विकास का मार्ग प्रशस्त किया। दूसरे शब्दों में, मलयालम साहित्य में पुनर्जागरण आंदोलन को आगे बढ़ाने का कार्य उन्हीं के कंधों पर था।

वह केवल महान् ही नहीं, वरन दूसरे में महानता को पहचानने और उसकी सराहना करने में भी सक्षम थे। रचनात्मक क्षमता छिपी हो या परिस्थितिवश आच्छन्न हो, उसे खोज निकालने की अद्भुत योग्यता उनमें थी। हम यह देख चुके हैं कि कुमारन आशान की पहली बड़ी कविता 'नलिनी' के भीतर की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति को उन्हींने कितनी शीघ्रता से पहचान लिया था। सहयोगियों, छात्रों, मित्रों तथा सहायता के लिए आए अन्य लोगों के साथ वह आदर्श व्यवहार करते थे। उनके जीवन स्तर, जाति या वर्ण पर वह कभी ध्यान नहीं देते थे। जोसेफ मुंडेशेरि का कथन है कि इनी वजह से वह चेतन या अचेतन रूप में एक 'तम्पुरान' की अपेक्षा एक 'मनुष्य' बन पाए थे। उन दिनों उनके समान सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले व्यक्ति के लिए अपनी उच्च जाति तथा शिक्षा के बारे में सचेत न रहना कोई छोटी चीज नहीं थी। उन्हींने उन सभी सुयोग्य तथा विकासमान लेखकों को संरक्षण दिया जो उनके पास आए। उन्हींने अपने साथियों तथा मित्रों को भी प्रेरणा दी।

कुमारन आशान की एक प्रसिद्ध शोक-प्रधान कविता 'प्ररोदनम्' का उल्लेख करते हुए हम अब इस संस्मरण का समापन कर सकते हैं। यह रचना कृतज्ञता, सम्मान और स्नेह की भावना से परिपूर्ण है। 'प्ररोदनम्' का अर्थ है अत्यधिक शोक। एक महान् विद्वान् और संरक्षक के प्रति एक महान् कवि द्वारा लिखी गई यह मलयालम की महत्त्वपूर्ण शोक-प्रधान कविताओं में से एक है। कुमारन आशान के लिए राजराज वर्मा की मृत्यु असहनीय थी क्योंकि वह जानते थे कि उनकी आकांक्षाओं और साथ ही मान्यताओं से ए० आर० के अतिरिक्त अन्य कोई परिचित नहीं था। अपने दिल को हटका करने के लिए उन्हींने यह शोक-प्रधान कविता लिखी थी।

एक विशिष्ट श्लोक में आवद्ध निम्नलिखित कविता उस महान् विद्वान् के प्रति कवि की श्रद्धांजलि है :

देवी सरस्वती को समर्पित,

वह प्रतिभा कभी मुरझाई नहीं। त कभी शुष्क हुई—

वह सोने की कलम।

तुमने कई उपहार पाए, अनेकों चमत्कार दिखाए—
सिद्धांत और व्यवहार—दोनों में
तुम्हारे शत्रुओं ने मुंह की खाई और
माता कैरली प्रसन्न हो उठी
और अपनी मुक्ति का स्वागत किया।

मलयालम लेखकों की परवर्ती पीढ़ी की ओर से कुमारन आशान ने श्रद्धांजलि देते हुए लिखा :

सब कुछ खो देना

नियति के सामने घुटने टेक देना

अंत्येष्टि की चिंता पर जीवन का निःशेष होना—

यह सब ईश्वराधीन है, परन्तु तुम्हारे पवित्र नाम को

हम रोपेंगे और आंसुओं से इसे सींचेंगे और सहेजेंगे

यह विकसित होगा, फैलेगा चतुर्दिग

अपनी फूलों की सुरभि से भर देगा।

अंतिम विनाश की लपट भी

इसे नहीं छू सकेगी।

ए० आर० राजराज वर्मा

घटनाक्रम

- | | |
|------|---|
| १८६३ | चंगनाशशेरि में जन्म |
| १८६५ | परिवार का कार्तिकपत्नी जाना |
| १८७७ | केरल वर्मा द्वारा शिक्षण का आरंभ |
| १८८१ | महाराजा के हाई स्कूल में नामांकन |
| १८८५ | 'तुलाभार प्रबन्धम्' |
| १८८८ | 'देवीदंडकम्', 'भंगविलापम्' |
| १८८९ | बी० ए० की उपाधि, (१८८९-विवाह), 'वीत विभावरी' 'मेषोपालम्भम्' |
| १८९० | संस्कृत विद्यालय में नौकरी |
| १८९१ | संस्कृत में एम० ए० |
| १८९२ | 'पितृप्रलापम्' |
| १८९४ | 'मेषदूत' (अनुवाद), संस्कृत महाविद्यालय के प्राचार्य, 'कुमारसंभवम्' (अनुवाद) |
| १८९५ | 'मलयविलासम्' |
| १८९६ | 'केरल पाणिनीयम्' (प्रथम संस्करण) |
| १८९९ | महाराजा कलेज, त्रिवेन्द्रम् में प्राच्य अध्ययन के अधीक्षक |
| १९०० | 'आंग्ल साम्राज्यम्' |
| १९०२ | 'भाषाभूषणम्', 'शब्दशोधिनी' |
| १९०५ | 'नलचरितम्' की टीका, 'वृत्तमंजरी' |
| १९०६ | 'प्रथम व्याकरणम्' |
| १९०७ | 'मध्यम व्याकरणम्' |
| १९०८ | प्रास से संबंधित विवाद |
| १९१० | 'लघु पाणिनीयम्', महाराजा कॉलेज में संस्कृत और द्रविड़ भाषाओं के प्रोफेसर |

- १९११ 'साहित्य सहायम्'
 १९१२ 'मलयाल शाकुंतलम्'
 १९१४ महाराजा कॉलेज के कार्यकारी प्राचार्य, 'भाषा-
 परिष्करण समिति' के सदस्य
 १९१५ केरल वर्मा की मृत्यु
 १९१६ महाराजा कॉलेज के कार्यकारी प्राचार्य,
 'मालविकाग्निमित्रम्' (अनुवाद)
 १९१७ 'केरल पाणिनीयम्' (संशोधित संस्करण) 'चारुदत्तम्'
 (अनुवाद)
 १९१८ 'स्वप्नवासवदत्तम्' (अनुवाद), मृत्यु

संदर्भ ग्रन्थसूची

मलयालम

१. अतन्तन पिल्लै, पी० — 'केरल पाणिनि' (१९३४)
 २. भागीरथी अम्मा तम्पुरान, एम०
 और राघव वर्मा, एम० — 'ए० आर० राजराज वर्मा' (तीन
 खंड १९५३, १९६१, १९६३)
 ३. हरि शर्मा, ए० डी० — 'रंतु साहित्य नायकमर' (१९३७)
 ४. मुंडशेरि, जोसेफ — 'राजराजते मत्तोलि' (१९६१)
 ५. परमेश्वर अय्यर, उल्लूर एस० — 'केरल भाषा-साहित्य चरित्रम्'
 पांचवां खंड (१९५७)

अंग्रेजी

६. जॉर्ज, के० एम० — 'ए सर्वे ऑफ मलयालम लिटरेचर'
 (१९६८)
 ७. जॉर्ज, के० एम० — 'वेस्टर्न इन्फ्लुएन्स आन मलयालम
 एण्ड लिटरेचर' (१९७२)

व्यापक अर्थों में कहा जाए तो १८५० के बाद सौ वर्षों तक की अवधि मलयालम साहित्य का स्वर्णकाल है। क्योंकि इस अवधि में ही केरल वर्मा, ए० आर० राजराज वर्मा, चंद्र मेनन, सी० वी० रामन पिल्लै तथा 'कवित्तयम्' आशान-उल्लूर-वल्लत्तोल जैसे प्रतिभावान सामने आए और उन्होंने ऐसा साहित्य प्रस्तुत किया जो हर तरह से महान् था।

केरल वर्मा और राजराज वर्मा वास्तव में शिखरविदु थे और उनका स्थान अप्रतिम है। राजराज वर्मा की विद्वत्ता और रचनात्मक प्रतिभा विरली थी। वह केरल में महान् साहित्यिक पुनर्जागरण की आत्मा थे।

ए० आर० राजराज वर्मा के बारे में उल्लूर का कथन है : 'यदि अन्य लोगों ने अपनी रंगकला और चित्रकला से मलयालम साहित्यागार की दीवारों पर कसीदाकारी की तो ए० आर० ने उसकी नींव और गुंबद दोनों पर श्रम किया तथा केरल की जनता के हित के लिए उस साहित्य की संरचना को दीर्घस्थायी बनाया। उनकी प्रसिद्धि इसी स्थापत्यविषयक कौशल पर निर्भर है और हमेशा रहेगी।'

इस पुस्तक के लेखक प्रसिद्ध विद्वान् और आलोचक डॉ० के० एम० जॉर्ज हैं, जो कई रूपों में साहित्य अकादेमी के साथ संबद्ध रहे। अंग्रेजी और मलयालम में अनेक रचनाओं के अतिरिक्त डॉ० जॉर्ज ने साहित्य अकादेमी के लिए दो पुस्तकें लिखीं—एक इसी शृंखला में कुमारन आशान तथा दूसरी का शीर्षक है : 'वेस्टर्न इम्प्लुएन्स आन मलयालम लैंग्वेज एंड लिटरेचर'।

इस माला की अन्य पुस्तकें

१. लक्ष्मीनाथ वेङ्गवरुआ : हेम बरुआ
२. बंकिमचन्द्र चटर्जी : सुबोधचन्द्र सेनगुप्त
३. बुद्धदेव बसु : अलोकरंजन दासगुप्त
४. चण्डीदास : सुकुमार सेन
५. ईश्वरचन्द्र विद्यासागर : हिरण्मय बनर्जी
६. जीवनानन्द दास : चिदानन्द दासगुप्त
७. काजी नज़रुल इस्लाम : गोपाल हल्दार
८. महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर : नारायण चौधुरी
९. माणिक बन्धोपाध्याय : सरोज मोहन मित्र
१०. प्रमथ चौधुरी : अरुणकुमार मुखोपाध्याय
११. राजा राममोहन राय : सौम्येन्द्रनाथ टैगोर
१२. ताराशंकर बन्धोपाध्याय : महाश्वेता देवी
१३. सरोजिनी नायडू : पद्मिनी सेनगुप्त
१४. तरु दत्त : पद्मिनी सेनगुप्त
१५. गोवर्धनराम : रमणलाल जोशी
१६. मेघाणी : वसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी
१७. नानालाल : उमेशभाई मणियार
१८. नर्मदाशंकर : गुलाबदास श्रोक
१९. भारतेन्दु हरिश्चन्द्र : मदन गोपाल
२०. जयशंकर प्रसाद : रमेशचन्द्र शाह
२१. प्रेमचन्द : प्रकाशचन्द्र गुप्त
२२. राहुल सांकृत्यायन : प्रभाकर माचवे
२३. रैदास : धर्मपाल मैत्री
२४. श्यामसुन्दरदास : सुधाकर पाण्डेय
२५. वि० एम० श्रीकंठय्य : ए० एन० मूर्तिराव
२६. विद्यापति : रमानाथ झा
२७. कुमारन् आशान : के० एम० जॉर्ज
२८. जानदेव : पुरुषोत्तम यशवन्त देशपांडे
२९. हरि नारायण आपटे : रामचन्द्र भिकाजी जोशी
३०. केशवसुत : प्रभाकर माचवे
३१. नामदेव : माधव गोपाल देशमुख
३२. नरसिंह चिन्तामण केलकर : रामचन्द्र माधव गोले
३३. श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर : मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे
३४. फ़कीरमोहन सेनापति : मायाधर मानसिंह
३५. राधानाथ राय : गोपीनाथ महन्ती
३६. सरलादास : कृष्णचन्द्र पाणिग्राही
३७. सूर्यमल्ल मिश्रण : विष्णुदत्त शर्मा
३८. बाणभट्ट : के० कृष्णमूर्ति
३९. कल्हण : सोमनाथ दर
४०. सचल सरमस्त : कल्याण बू० आडवाणी
४१. शाह लतीफ़ : कल्याण बू० आडवाणी
४२. भारती : प्रेमा नन्दकुमार
४३. इलंगो अडिगल : मु० वरदराजन
४४. कम्बन् : एस० महाराजन
४५. पोतन्ना : दिवाकल्ल बेंकटावधानी